अरस्तू

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—३८

अरस्तू

लेखक

शिवानन्द शर्मा, एम० ए०

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण

१९६०

मूल्य

साढे तीन रुपया

मुद्रक

पं० पृथ्वीनाथ भ

भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट

प्रकाशकीय

यूरोप के प्राचीन विचारकों और चिन्तकों में अरस्तू का प्रमुख स्थान है। वहाँ के दर्शन, राजनीति, समाज-व्यवस्था आदि पर उसके ग्रन्थों का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। परवर्ती विचारधारा और उसके बाद के विद्वानों एवं लेखकों की रचनाओं पर उसकी स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। जैसा कि इस पुस्तक के लेखक ने लिखा है, "आधुनिक चिन्तन-शैली के प्रायः सभी आवश्यक अंगों का जन्मदाता अरस्तू ही है।" उसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही नहीं है, वरन् कई विषयों में उसकी मान्यताएँ और धारणाएँ आज भी उपयोगी एवं सुग्राह्य हैं। उसके ग्रन्थों में अध्ययन-मनन की प्रभूत सामग्री विद्यमान है। इसी से विश्व के ज्ञान-विज्ञान का भाण्डार हिन्दी भाषा में प्रस्तुत कराने की उत्तर प्रदेश प्रशासन की योजना के अन्तर्गत यह पुस्तक भी प्रकाशित की जा रही है।

हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला का यह ३८वाँ ग्रन्थ है। इसके लेखक श्री शिवानन्द शर्मा दर्शन के अच्छे ज्ञाता एवं चिन्तक हैं। इंगलैण्ड, इटली आदि देशों की सांस्कृतिक संस्थाओं से आपका सम्पर्क रहा है। आपने 'समाज-विज्ञान' तथा 'नीति-विज्ञान' नामक दो पुस्तकें लिखी हैं, जो हिन्दी समिति द्वारा पुरस्कृत हो चुकी हैं। आप गोरखपुर के सेंट एण्ड्रूज कालेज में दस वर्षों तक दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक रह चुके हैं।

श्री शर्मा ने अरस्तू के विचारों का यथेष्ट अध्ययन किया है और उसके ग्रन्थों का मन्थन कर सार रूप में जो संकलन अपने ढंग से यहाँ प्रस्तुत किया है उससे ग्रीक भाषा के इस महान् विद्वान् की रचनाओं में उपलब्ध महत्त्वपूर्ण विचारों से परिचित होने में यथेष्ट सहायता मिलेगी। आपकी भाषा सरल और लेखनशैली सुलझी हुई है। आशा है, अरस्तू का यह संक्षिप्त अध्ययन हिन्दी भाषी पाठकों के लिए उपयोगी होगा और वे इससे यथेष्ट मात्रा में लाभ उठा सकेंगे।

भगवतीशरण सिंह
सचिव, हिन्दी समिति

प्राक्कथन

किसी एक प्रमुख पाश्चात्य विचारक के साहित्य को पढकर हिन्दी मे एक छोटी-सी पुस्तक लिखने की इच्छा का मूर्त रूप पाठको के हाथ मे दिया जा रहा है। उक्त प्रकार के अध्ययन के लिए अरस्तू का साहित्य अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ, क्योंकि पाश्चात्य जगत् मे उसी ने सबसे पहले संसार के व्यवस्थित अध्ययन की योजना प्रस्तुत की थी। उचित चिन्तन मे तादात्म्य और अविरोध के नियमों का पालन करना पहले-पहल उसी ने अनिवार्य ठहराया। पहले-पहल अध्ययन मे ऐतिहासिक विधि का प्रयोग उसी के साहित्य मे मिलता है। संक्षेपत आधुनिक चिन्तन-शैली के लगभग सभी आवश्यक अगों का जन्मदाता अरस्तू ही था।

प्रस्तुत पुस्तक में लम्बी सहायक ग्रथ-सूची सम्मिलित नही है, क्योकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पुस्तक का मुख्य ध्येय अरस्तू के साहित्य मे मिलनेवाले आवश्यक विचारो को प्रस्तुत करना है।

प्रारभ में एक पृष्ठभूमि है, जिसमे अरस्तू के पहले की धार्मिक, सास्कृतिक तथा दार्शनिक परपराओ मे प्राप्त होनेवाले मुख्य प्रभावो की ओर सकेत कर दिये गये है।

पहले अध्याय मे अरस्तू का जन्म और जीवनवृत्त एकत्र कर दिया गया है। दूसरे मे अरस्तू के साहित्य का संक्षिप्त परिचय देने के साथ ही उक्त साहित्य को आधुनिक युग तक सुरक्षित रखनेवाले माध्यमो का उल्लेख कर दिया गया है। तीसरे अध्याय से प्रारभ कर अन्तिम अध्याय तक अरस्तू का अध्ययन है।

यहाँ पर हिन्दी के पारिभाषिक शब्दो के प्रयोग तथा यूनानी सज्ञा-शब्दों के उच्चारण के सम्बन्ध मे कुछ बाते बतला देना आवश्यक समझ पडता है। "अरस्तू" मे विभिन्न शास्त्रो के अन्तर्गत रखे जानेवाले अध्याय सम्मिलित है,

अतएव कुछ शब्द एक से अधिक पारिभाषिक अर्थों में प्रयुक्त हुए है। दूसरी बात यह है कि सूक्ष्म प्रत्ययात्मक अतर व्यक्त करने के लिए कही-कही मिलते-जुलते अर्थवाले शब्दो का प्रयोग करना पड़ा है। उन्हे पर्यायवाची मान लेने से अभीष्ट अर्थ का बोध नही होगा। अच्छा होगा कि ऐसी समस्याएँ सामने आने पर पुस्तक मे दिये हुए पारिभाषिक शब्द-कोश से काम लिया जाय।

यूनानी सज्ञा-शब्दो को लिखने मे अधिकतर अग्रेजी के प्रचलित रूपो से काम लिया गया है। अप्रचलित, अल्प-प्रचलित तथा उन शब्दो को जिनके यूनानी उच्चारण अंग्रेजी उच्चारण से बहुत भिन्न है, यूनानी रूपो मे रखा गया है। इसीलिए नीचे यूनानी वर्णमाला की कुछ विशेषताएँ दे दी जाती है जिनसे सभी यूनानी संज्ञा-शब्दो के आधुनिक उच्चारण समझे जा सके।

यूनानी भाषा मे अंग्रेजी के बी (B), डी (D) और टी (T) वर्णो की ध्वनियो को व्यक्त करनेवाले वर्णो का अभाव है। यूनानी के बीता (B, β), देल्ता (Δ, δ) और तफ् (T, τ) को भूल से बीटा, डेल्टा और टफ् समझा जाता है।

यूनानी भाषा मे ग ध्वनि के साथ पर ग़ ध्वनि का प्रयोग होता है। गामा कहलानेवाला वर्ण गामा (Γ, γ) है। इसे अंग्रेजी मे ग ध्वनि न होने के कारण जी (G) में बदल दिया जाता है।

यूनानी मे अंग्रेजी के सी (C) के सदृश उच्चारणवाला कोई वर्ण नही है जो कभी क और कभी स की भाँति उच्चरित हो। यूनानी का सिगमा (Σ, σ) सदैव स की भाँति और कप्पा सदैव क की भाँति उच्चरित होता है। सॉक्रेटीज (Socrates) और डेमोक्रिटस (Democritus) मे प्रयुक्त सी (C) कप्पा का ही स्थानापन्न है।

यूनानी में अंग्रेजी के एच (H) और एक्स (X) की ध्वनियो से मिलती जुलती ध्वनियाँ भी नही है। एच की आकृतिवाला यूनानी वर्ण ईता (H, η) है। अन्य स्वरो की भाँति इसका भी श्वास उच्चारण सभव है जिसे सूचित करने के लिए वर्ण से पहले उसके शिर पर एक कामा ('H) लगा देते है। किन्तु श्वास

उच्चारण होने पर भी यूनानी के मुख से ह ध्वनि न निकल कर हल्की ख ध्वनि निकलती है। जैसे, हिन्दी को वह खिन्दी ही कह सकेगा। यूनानी के खी (X, X) वर्ण से भी ख ध्वनि उच्चरित होती है। इस वर्ण को भी एक्सी नहीं समझना चाहिए। अंग्रेजी में सी और एच को मिलाकर इसे व्यक्त किया जाता है, जैसे 'Arche' में, किन्तु यूनानी में इसे आर्खी (Aλxη) ही पढा जायगा।

यूनानी के प्सी (ψ) और फी को क्रमशः पी-एस (Ps) और पी-एच (Ph) लिखा जाता है। ऐसा करने पर फी का उच्चारण तो सुरक्षित रहता है, किन्तु प्सी का विकृत हो जाता है, क्योंकि अंग्रेजी उच्चारण में एस के पहले पी को अनुच्चरित रखते हैं। यूनानी में प्सी लिखने पर, शब्द के आदि में भी हो तो उच्चारण में कोई अंतर नहीं पड़ता, आधा प बोला जाता है। जैसे यूनानी का प्सीखी (ψvxη') अंग्रेजी में साइकी (Psche) हो गया है।

यूनानी के शेष व्यजन वर्ण जीता (Z, ζ), थीता (Φ, θ), लैम्दा (Λ λ) मी (M, *M*), नी (N, ν), जी ([illegible], ξ), पी (π, π) और रो (P, ρ) है। इनके उच्चारण क्रमश: ज, थ, ल, म, न, ज, प और मूर्धन्य र के सदृश होते हैं।

स्वर वर्ण सात है, किन्तु वे सब मिलकर चार स्वर ध्वनियों को व्यक्त करते है। अल्फा (A, α) का उच्चारण अ के सदृश, एप्सीलान (E, ε) का ए के सदृश, ईता (H, η), इओता (I, L) और इप्सीलान (y, v) का इ के सदृश होता है। ओमीक्रान (O, o) और ओमेगा (O, ω) के उच्चारण में कोई अन्तर नही, केवल छोटा ओमेगा अंग्रेजी के छोटे डब्ल्यू की भाँति लिखा जाता है। ये दोनो स्वर वर्ण ओ ध्वनि को ही व्यक्त करते हैं।

यूनानी भाषा मे कुछ संयुक्त स्वर ध्वनियों का भी प्रयोग होता है। ओमीक्रान और (O, L) इओता का सम्मिलित उच्चारण ई के सदृश, अल्फा और इप्सीलान (E, v) का अव् या अफ् के सदृश, एप्सीलान और इप्सीलान (E, v) का एव् या एफ् के सदृश तथा ओमीक्रान और इप्सीलान (O, v) का अंग्रेजी के दो ओ (O, o) के सदृश होता है। इतने संकेतो से यूनानी शब्दों के आज के प्रचलित उच्चारण समझे जा सकते है।

प्रस्तुत पुस्तक के विषय मे अधिक कुछ बताने की आवश्यकता नही समझ पड़ती। पाठक स्वयं पढकर विचार करेगे। अन्त मे, मै उन सभी लेखकों, अनुवादको एव सग्रहकर्त्ताओं के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थों को पढकर मुझे अरस्तू के ग्रथो को तथा उसके समय आदि की विशेषताओ को समझने मे मदद मिली है। हिन्दी समिति के प्रति आभारी हूँ जिसने "अरस्तू" को प्रकाश में लाने की मेरी इच्छा पूरी की है। इष्ट-मित्रो के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने अपने परामर्शों से तथा पाठ्य सामग्री प्राप्त करने आदि मे सहायता देकर समय समय पर उत्साहवर्द्धन किया है।

सहृदय पाठकों को यह भी बताना चाहता हूँ कि "अरस्तू" लिखने के लिए सन १९५७ ई० मे मुझे सेंट ऐण्ड्रूज (डिग्री) कालेज की आठ वर्ष पुरानी अध्यापकी से त्यागपत्र देना पडा था। पूर्ण अवकाश मे अनन्य चिन्तन किये बिना अरस्तू के साहित्य के आधार पर "अरस्तू" लिखना सभव न था।

शिवानन्द शर्मा

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ संख्या
	पृष्टभूमि (पूर्व-अरस्तवी दर्शन)	–१–
१.	अरस्तू का जन्म और जीवन-वृत्त	१
२.	अरस्तू का साहित्य	९
३	ज्ञान-मीमांसा	१९
४	भौतिक विज्ञान	३३
५.	रसायन-विज्ञान	५१
६.	जीव-विज्ञान	६५
७	मनोविज्ञान	८४
८	दर्शन	१०७
९.	नीतिशास्त्र	१२४
१०.	राजनीति-शास्त्र	१६०
११.	भाषणकला तथा काव्यशास्त्र	१७५
१२.	पारिभाषिक शब्दसूची	१९१
१३.	सहायक ग्रन्थो की सूची	२०९
१४.	अरस्तू की पुस्तको के सकेत	२१२
१५	नामानुक्रमणिका	२१५
१६	विषयानुक्रमणिका	२२२

पूर्व-अरस्तवी दर्शन

अरस्तू के साहित्य से अरस्तू के चितन का ही नही वरन् अरस्तू के समय तक के यूनानी चिंतन के सभी सूत्रों का पता चल जाता है। वह पहला पाश्चात्य विचारक था, जिसने भौतिक जगत्-सम्बन्धी अध्ययनो एव मानवीय अध्ययनो की सीमाएँ निर्धारित करने का प्रयत्न किया था और विभिन्न विषयों के अन्तर्गत ऐतिहासिक विधि का अनुसरण करते हुए, अपने विचार व्यक्त किये थे। स्थान-स्थान पर वह होमर से लेकर प्लेटो तक की याद करता है। इसी लिए यह आवश्यक है कि हम अरस्तू का अध्ययन करने के पूर्व, यूनानी चितन की मुख्य-मुख्य रेखाओं पर एक सक्षिप्त दृष्टि डाल ले।

यो तो यूनानी दर्शन का प्रारभ तब से माना जाता है, जब ईसा-पूर्व छठी शताब्दी के मध्यभाग में, थेलीज नामक दार्शनिक ने जल को जगत् का मूल तत्त्व घोपित किया था। फिर, थेलीज़ के समय से विकसित होनेवाले भौतिक दर्शन को, अरस्तू के समय मे ही, प्राचीन सांस्कृतिक धारणाओ का फल माना जाने लगा था। स्वयं अरस्तू ने (तत्त्वविद्या मे) लिखा है कि कुछ लोगों के मत से, थेलीज़ से बहुत पहले, पुराने जमाने के यूनानियो ने भी जल को मूल तत्त्व मानकर 'ओकिएनस' और 'टेथीज' को, अथवा जल-देवता और जल-देवी को ससार का पिता और माता कहा था।[1] निश्चय ही अरस्तू का संकेत होमर के 'इलियड' नामक महाकाव्य की ओर है।

होमर-कालीन कल्पनाएँ

'इलियड' पढ़ने से भी यही धारणा बनती है कि प्राचीन यूनानियो के सामने वे सभी समस्याएँ थी, जिन पर आगे चलकर दार्शनिको ने विचार किया। वे जानना चाहते थे कि ससार की उत्पत्ति कैसे हुई, मनुष्य कहाँ से आया, वह कैसे

१. अरस्तू : मेटाफ़िज़िका, बुक ए, अ० ३, ९८३ बी, २८-३४

जीवित रहता है, उसके जीवन की घटनाओं के पीछे कौन-सा कारण छिपा रहता है और मरने पर कुछ शेष रहता है अथवा नहीं।

इन प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर न सोच पाने के कारण, पाश्चात्य जगत् के उस युग का मनुष्य भौतिक उपादानों को साकार बनाकर अपनी जिज्ञासा शान्त कर रहा था। मानवीय सृष्टि (Generation) की समस्या को वह देवी-देवताओं की कल्पना से हल कर रहा था। होमर-कालीन देव-वाद का कोई व्यवस्थित रूप न था, पर इसमे कार्य-कारण-सम्बन्ध की तथा नियमन की आकांक्षा छिपी हुई थी। जीवन बडा ही अनिश्चित था, किन्तु भोले-भाले यूनानी इतना अवश्य समझ रहे थे कि जो कुछ होता है, किसी न किसी नियम के अनुसार होता है, किसी न किसी कारण से होता है।

इसी लिए वे सभी मानवीय घटनाओं को देवताओं के मत्थे मढते थे, पर दैवी न्याय की कल्पना भी करते थे। 'ट्रोजन'—युद्ध में दो योद्धाओं के भिडने पर उनके विचार से वही मर रहा था, जिसके भाग्य का पलडा 'जियस' के तराजू पर हलका पड रहा था। मरने के बाद उनकी आत्माएँ, जिन्हे वे जीवित पुरुष की छायामात्र समझ रहे थे, 'हेड्ज' के देश को चली जा रही थी। ये सब विचार बहुत समय तक यूनानियों के चिंतन को व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप मे प्रभावित करते रहे।

इस समय के चिंतन मे नैतिक पक्ष की बहुत कमी थी, क्योंकि मनुष्य अपने सभी कामो को देवताओं की इच्छा पर निर्भर मानने के कारण, जहाँ उन्हे उचित कामों का श्रेय दे रहा था, वही अनुचित कामों का दोष भी लगा रहा था। यही कारण है कि सुकरात को, ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी मे, सास्कृतिक नैतिकता के विरुद्ध आवाज उठाने के अपराध मे प्राणदड भोगना पडा। पर, यह स्थिति तो बहुत समय बाद उत्पन्न हुई। ईसा-पूर्व छठी शताब्दी तक होमर-कालीन सभ्यता को ही युक्ति-युक्त बनाने के प्रयत्न होते रहे।

हेसियड का देव-सृष्टि वर्णन

होमर से एक शताब्दी बाद, ईसा-पूर्व आठवी शताब्दी मे, हेसियड नामक कवि ने सास्कृतिक देवी-देवताओं के वंश-वृक्ष (Geneology) तैयार

किये । उसके वर्णनो से मानवीय चिंतन मे एक आवश्यक परिवर्तन की सूचना मिलती है । अब तक यूनान का मनुष्य सृष्टि की शृंखला में क्रम और व्यवस्था की आकांक्षा करने लगा था । इसी के फल-स्वरूप, हेसियड ने सृष्टि के विकास के तीन सोपान बनाये ।

सृष्टि (World process) के पहले चरण मे केऑस (शून्य), गिया[१] (पृथ्वी) और इरास (काम) की उत्पत्ति हुई । इनमे से काम की कल्पना प्रेरक तत्त्व की कल्पना है । आगे चलकर, एम्पीडॉक्लीज ने हेसियड के इसी 'काम' को और होमर के 'डिस्कॉर्ड' (द्वेष) को सयोग-वियोग के नियमो मे परिणत किया । शून्य और पृथ्वी ने सृष्टि का क्रम आगे बढ़ाया ।

दूसरे चरण मे, शून्य से अधकार ('इरेबस') और रात्रि ('निक्स') उपजे । इन दोनो के सयोग मे शून्य को भरनेवाला सूक्ष्म तरल 'ईथर' और 'एमरा' अथवा दिन उत्पन्न हुआ । गिया अथवा पृथ्वी ने आकाश उत्पन्न किया और फिर दोनो ने मिलकर टाइटन-परिवार उत्पन्न किया । इस टाइटन-परिवार मे ही, पुरुष क्रोनॉस और ओकिएनस[२] तथा स्त्रियाँ 'रिया' और 'टेथीज' थी, जिनमे से 'क्रोनास' और 'रिया' ने देव-सतति तथा 'ओकिएनस' और 'टेथीज' ने जल-परियो को उत्पन्न किया ।[३]

तीसरे चरण मे, देवताओ और जल-परियो के सयोग से योद्धाओ की उत्पत्ति होती है और इनके पतन से, धीरे-धीरे, मानवीय सृष्टि का विकास होता है । इस सृष्टि-वर्णन मे भावी विचारको के लिए बहुत से सकेत थे । इसमें एक ही मूल से पूरी सृष्टि के विकास की बात थी, एक

१. यूनानी भाषा में ग के स्थान पर ग-ध्वनि सूचक गामा γ वर्ण प्रयुक्त होता है
२. यूनानी भाषा के ओकिएनस से ही अंग्रेजी का सागर-अर्थवाची ओशन शब्द निकला है
३ ध्यान रहे, होमर और हेसियड के साहित्य में जिन स्थूल तथा सूक्ष्म अवयवों के उत्पन्न होने की कल्पना की गयी थी, उन सबको व्यक्तियों के रूप में देखा गया था

अनिश्चित स्वभाववाले पदार्थ से दो निश्चित, किन्तु विरुद्ध स्वभाववाली वस्तुओं के विकास की बात थी। टाइटनों ने ही तो ओलिम्पस पर रहनेवाले देवों और भूमि पर रहनेवाली जल-परियों को उत्पन्न किया था। पर, अभी एक मूल तत्त्व से शेष भौतिक वस्तुओं के विकास की बात तथा टाइटनों से मानवीय सृष्टि के विकास तक की कहानी पूरी न हुई थी। ऑर्फियस के गीतों की परंपरा ने इसे पूरा करने का प्रयत्न किया।

ऑर्फियस का संगीत

सातवी शताब्दी ईसा-पूर्व के आस-पास, यूनान में ऑर्फियस के गीतों की परम्परा बन गयी थी। लगभग प्रत्येक यूनानी कवि ऑर्फियस के नाम पर प्रचलित गीतों की कथाओं को नये गीतों का रूप दे रहा था। करुण रस का पुट मिल जाने से ये गीत बहुत लोक-प्रिय हो गये थे और इन्होंने जन-धारणा को बहुत प्रभावित किया था। इन गीतों में सृष्टि की कथाएँ गायी जाती थी, किन्तु 'डायोनीसस जैग्रियस' की तथा प्रथम मनुष्य की उत्पत्ति की कहानियां मुख्य थी। ये कहानियाँ सक्षेप में इस प्रकार है—

(१) जियस ने, डेमीटर की पुत्री 'पर्सीफोनी' से 'डायोनीसस' नाम का पुत्र उत्पन्न किया और उसे संसार का भावी शासक नियुक्त किया। 'टाइटनों' ने इसे नापसंद किया और एक दिन अवसर पाकर, उन्होंने 'डायोनीसस' को मारकर उसके टुकड़े किये और आपस में बाँटकर खाने लगे। अकस्मात् देवी 'एथीना' की निगाह पड़ गयी और उसने 'डायोनीसस' का हृदय 'टाइटनों' से छीनकर 'जियस' के पास पहुँचाया। 'जियस' ने 'डायोनीसस' के हृदय को निगलकर उसका बीज अपने में सुरक्षित कर लिया और उससे पुनः डायोनीसस की उत्पत्ति की। इस बार उसका नाम 'डायोनीसस जैग्रियस' पड़ा।

(२) डायोनीसस को खा जाने के अपराध में जियस ने अपना वज्र छोड़कर टाइटनों को भस्म कर दिया। पर, यह सोचकर कि टाइटनों के शरीर में उनके पुत्र का अंश था, उन्होंने सारी भस्म इकट्ठी कर, उसे प्रथम मनुष्य का रूप दिया।

इन कहानियों में मनुष्य की द्विधा प्रकृति और आत्मा के आवागमन के विचार छिपे हुए थे, क्योंकि जिस भस्म से पहला मनुष्य बना था उसमें 'टाइटनों' की आसुरी प्रकृति और 'डायोनीसस' की देव-प्रकृति के अंश थे। साथ ही एक जीवन से दूसरे जीवन में जाने की बात थी। ऑर्फियस की गीत-परंपरा ने पाइथागोरस के सम्प्रदाय को प्रभावित किया था। इसी लिए उस सम्प्रदाय में भी आवागमन (Transmigration of Soul) की बात मानी जाती थी। कहा जाता है कि पाइथागोरस के मतों से एथेन्स का प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो तक प्रभावित था।

दर्शन की उत्पत्ति

छठी शताब्दी ईसा-पूर्व तक, यूनानियों में इतनी तर्क-बुद्धि जाग चुकी थी कि वे अपनी सांस्कृतिक कहानियों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालने लगे थे। इसी बीच एशियामाइनर में फारस के हमले शुरू हो गये थे।[1] इनके कारण भी प्राचीन देव-वाद में यूनानियों का विश्वास कम हो चला था। ईसा-पूर्व ५४६ में, लीडिया के शासक क्रीसस की हार हो जाने से भौतिक समस्याओं पर नवीन ढंग से सोचने की आवश्यकता को पूर्ण समर्थन मिल गया। कहा जाता है, यूनानी दर्शन का जन्मदाता थेलीज, क्रीसस का वैज्ञानिक परामर्श-दाता था।

भौतिक दर्शन

थेलीज ने जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार किया और कहा कि जल से ही संसार की सब वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं। इस प्रकार पहले-पहल यूनान में भौतिक दर्शन का सूत्रपात हुआ। थेलीज ने जल को संसार का मूल स्रोत मानकर भौतिक एकतत्त्ववाद[2] की स्थापना की थी। एनेक्जिमिनीज[3]

१. जन एलेन हैरिसन, 'थीमिस', पृ० ४६१

२. एक प्राथमिक भौतिक तत्त्व से जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त

३. थिओडोर गाम्पर्ज ने 'ग्रीक थिंकर्स' में एनक्जिमिनीज का समय ५२८-२४ ई० पू० दिया है

और हेराक्लाइटस[1] ने वायु और अग्नि को प्राथमिक तत्त्व मानकर इसी धारा मे योग दिया। किन्तु एम्पीडॉक्लीज ने एकतत्त्ववाद को अपर्याप्त समझकर बहुतत्त्ववाद[2] का समर्थन किया। उसने जल, वायु और अग्नि के साथ पृथ्वी को रखकर चार तत्त्वो से जगत् की उत्पत्ति का समर्थन किया था।

आगे चलकर डेमोक्रिटस ने असंख्य अणुओ से जगत् की उत्पत्ति बतलायी, किन्तु यूनानी दर्शन मे एम्पीडाक्लीज का ही मत मान्य रहा। अरस्तू ने भी चार तत्त्वो के मत को ही स्वीकार किया था। अणुवाद (Atomic theory) को स्वीकृति न प्राप्त होने का विशेष कारण यह था कि अणुवादियो ने विभिन्न अणुओं मे गुण-भेद नही माना था। अणुओ से उत्पन्न वस्तुओ के स्वभाव का भेद उन्होने अणुओ के आकार (Shape), क्रम (Order) तथा स्थिति (Position) के भेदो पर निर्भर माना था। इसी लिए यूनानी दर्शन-काल मे इस मत को मान्यता प्राप्त न हो सकी।

प्राचीन यूनानी भौतिकवाद मे एक बड़ी कमी यह थी कि इसमे गति की व्याख्या नही हो पायी थी। एनेक्जिमिनीज ने वायु के घन (Dense) और विरल (Rare) होने से जल तथा अग्नि की उत्पत्ति का अनुमान किया था। हेराक्लाइटस ने अग्नि से सभी वस्तुओं का और सभी वस्तुओ का अग्नि मे रूपान्तर होना ही उत्पत्ति और विनाश का अर्थ बतलाया था। एम्पीडाक्लीज ने संयोग और वियोग को उत्पत्ति और विनाश का माध्यम माना था। कसीने इस बात पर विचार नही किया था कि गति क्यो होती है और कैसे होती है? अणुवादियो ने गति को अणुधर्म मानकर इस समस्या को ही समाप्त कर देना उचित समझा था।

१. डब्लू. टी. स्टेस ने 'ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव ग्रीक फिलॉसफी', पृ० ७२ पर हेराक्लाइटस की मृत्यु का समय ४७५ ई० पू० बतलाया है।
२. बहुत से भौतिक तत्त्वों से जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त

बुद्धिवाद

अपनी अपूर्णता के कारण यूनान मे भौतिकवाद (Materialism) उस काल मे पनप न सका। इसका एक कारण यह भी था कि पुराने देववाद का प्रभाव अभी बहुत कम नहीं हो पाया था। फिर, भौतिक जगत् का ज्ञान इतना अपूर्ण था कि दार्शनिको को अपनी गुत्थियो को सुलझाने के लिए बौद्धिक प्रत्ययो का सहारा लेना ही पडता था। इसी लिए जहाँ दार्शनिको के एक समूह ने जल, वायु आदि भौतिक तत्त्वो का प्राथमिक अस्तित्व माना, वही दूसरी धारा ने प्राथमिक अस्तित्व को 'असीम', 'सत्', 'विज्ञान' आदि नाम दिये।

इस बुद्धिवादी परम्परा का भौतिकवाद के साथ ही जन्म हुआ था। एनेक्जिमैंडर ने जिस समय 'असीम' को ससार का स्रोत कहा था, लगभग उसी समय थेलीज और एनेक्जिमिनीज जल और वायु को परम तत्त्व बता रहे थे। बल्कि, यूनानी दर्शन में शुद्ध भौतिकवाद खोज पाना ही कठिन है। हेराक्लाइटस अग्नि से वस्तुओ के आविर्भाव को अधोमार्ग (Way down) और अग्नि मे वस्तुओं के तिरोभाव को ऊर्ध्वमार्ग (Way up) कहता है और, सत्य ज्ञान मे दोनो मार्गो की एकता का समर्थन करता है। निश्चय ही, यूनानी भौतिकवादी अपने भौतिक तत्त्वो को स्थूल और सूक्ष्म दोनो रूपो मे देख रहे थे। किन्तु बुद्धिवाद को विशेष रूप से पाइथागोरस, पारमेनाइडीज और एनेक्जागोरस ने सबल किया।

पाइथागोरस

पाइथागोरस सैमोस नामक द्वीप का रहनेवाला था, किन्तु ई० पू० ५३२ मे वह दक्षिणी इटली के क्रोटोना नामक स्थान को चला गया था और वहा उसने अपने धार्मिक संप्रदाय की स्थापना की थी। यह संप्रदाय गणित और सगीत के अध्ययन पर विशेष बल देता था। यहाँ तक कि इस सम्प्रदाय ने सख्याओ को वस्तुओ का सार (Essence) मान लिया था और आकाश को विश्व-सगीत का मान Scale इनमे से पहले विचार ने प्लेटो का

जातियों का उद्भव मानना संख्याओं से वस्तुओं की उत्पत्ति मानने के समान है। अरस्तू ने पाइथागोरस के विश्व-संगीत के मान को ही तो विश्व की गति का अचल केन्द्र माना था।

पाइथागोरस के मत में, आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व और आवागमन के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया गया था। इतना ही नहीं, पाइथागोरस के अनुयायी कर्मवाद में भी निष्ठा रखते थे। प्लेटो के 'फीडो' नामक संवाद में, सुकरात पाइथागोरस के आत्मा-संबंधी विचारों का ही समर्थन करता है।

पारमेनाइडीज

पारमेनाइडीज का समय ई०पू० ५४० से ४७० ई० पू० माना जाता है। वह हेराक्लाइटस के मत से परिचित था। इस मत में वस्तु-जगत् को अग्नि का रूपांतर बताकर, उसके मिथ्या होने की ओर संकेत किया गया था। पारमेनाइडीज ने बलपूर्वक उपदेश दिया कि 'सत्' के अतिरिक्त और कुछ सत्य नहीं है। उसने सत् (Being) को अनादि, अनन्त, अद्वितीय, अविनश्वर तथा सार्वभौम कहा था। उसका कथन था कि सत् अचल है। इसमें गति नहीं होती। गति अथवा परिवर्तन केवल भ्रम है। इस प्रकार उसने एक अचल निरपेक्ष (Absolute) सत्य को संसार का मूलाधार बताकर आगे चलकर विकसित होनेवाले प्रत्ययात्मक अद्वैतवाद के लिए मार्ग बना दिया।

एनेक्जागोरस

पारमेनाइडीज के दर्शन से प्रभावित होकर, एनेक्जागोरस ने कहा कि प्रारंभ में संसार बहुत ही अव्यवस्थित था, किन्तु 'नाउस' (बुद्धितत्त्व) ने उत्पन्न होकर मिश्रित पदार्थों में गति उत्पन्न की, जिससे सभी वस्तुओं ने अलग-अलग रूप ग्रहण किये। एनेक्जागोरस का 'नाउस' बुद्धि-तत्त्व अथवा चेतन तत्त्व था। इस मत ने दो आवश्यक सुझाव दिये थे। एक यह था कि संसार का आदि कारण चेतन है और दूसरा यह कि गति का स्रोत, पदार्थ-वादियों की भाँति पदार्थों में न खोजकर, उनसे बाहर खोजना चाहिए। एनेक्जागोरस के सिद्धान्त ने मनोविज्ञान के विकास के लिए भी स्थान बना

दिया था। किन्तु अभी तक यूनानी दर्शन का कोई व्यवस्थित रूप नहीं बन पाया था, केवल फुटकर विचार बहुत से एकत्र हो गये थे।

सोफ़िस्ट विचारक

ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी के मध्य में, यूनान में सोफ़िस्ट कहलानेवाले शिक्षकों का एक दल तैयार हुआ, जिसने युवकों को घूम-घूमकर सम्भाषण की शिक्षा देना प्रारभ किया। ये शिक्षक धन लेकर शिक्षा देते थे, इसलिए सुकरात और प्लेटो ने इनकी बहुत निंदा की थी। वैसे इन शिक्षकों ने बहुत से ऐसे काम किये थे, जिनसे चिंतन-पद्धति के विकास में सहायता मिली।

प्रॉडिकस नामक एक सोफिस्ट ने मिलते-जुलते शब्दों के अर्थों का भेद समझाने के लिए पुस्तके लिखीं। उस समय तक यूनानी भाषा का न तो कोई कोश बना था और न व्याकरण ही। पहले-पहल सोफिस्टों के ही समय मे विद्यार्थियों को ज्ञान प्राप्त कराने के निमित्त पाठ तैयार किये गये थे। इन सब कार्यों मे शिक्षण-पद्धति का विकास हुआ। शिक्षण की आवश्यकता से ही व्यवस्थित ढंग से विचारो को व्यक्त करने का प्रयत्न आरम्भ हुआ और व्याख्या-पद्धतियों का भी विकास होने लगा।

प्रसिद्ध है कि सोफिस्ट किसी भी वाक्य का मनमाना अर्थ निकाल लेते थे। इनके इस कार्य से विचारकों को बहुत लाभ हुआ। उनकी समझ में आया कि बिना चिंतन का मानदंड स्थिर हुए, व्याख्याएँ सीमित नहीं की जा सकती। अरस्तू के तादात्म्य के नियम 'ला आव आइडेन्टिटी' को सोफिस्टों की व्याख्या-पद्धति की प्रतिक्रिया का फल मान लेना अनुचित न होगा।

सोफिस्टों में सबसे वृद्ध प्रोटैगोरस था। वह मनुष्य को सभी मानदंडों का जन्मदाता मानने के लिए यूनानी दर्शन मे प्रसिद्ध हो गया है। किन्तु इस मत के कारण उसे स्थूल व्यक्तिवाद का समर्थक न समझना चाहिए। उसका कथन उस समय तक विकसित सभी यूनानी मतों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी है। तब तक किसी तार्किक शैली का विकास नहीं हुआ था। जिस विचारक की समझ में जो आया था वही उसने उपदेश के रूप में कह दिया था।

प्रोटैगोरस के कथन से सुकरात, प्लेटो और अरस्तू ने संकेत लिये और तर्क का विकास हुआ।

सुकरात

सोफ़िस्टो के ही काल मे यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात (साक्रेटीज) का जन्म हुआ था। प्रसिद्ध इतिहासकार ग्रोटे[1] ने सुकरात का समय ई० पू० ४६९ से ३९९ दिया है। सभी मान्य विवरणों से पता चलता है कि सुकरात, एथेन्स नगर के एक साधारण मूर्तिकार के घर पैदा हुआ था, किन्तु अपने आदर्श जीवन, सामाजिक व्यवहार तथा आत्म-त्याग के कारण उसने यूनानी दार्शनिको मे सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। सुकरात ने न तो कोई नौकरी-चाकरी की और न अपने पैतृक व्यवसाय में ही विशेष रुचि ली। उसने अपना सपूर्ण जीवन दर्शन की सेवा में लगा दिया। इसके बदले मे एथेन्स के जन-तंत्र ने सत्तर वर्ष की उम्र में सुकरात पर अधार्मिक होने, धन लेकर शिक्षा देने और युवको को राज्य के विरुद्ध भडकाने के अपराध लगाये और उसे मृत्यु-दड दिया।

सुकरात ने स्वय कुछ नही लिखा था। उसके दार्शनिक विचारो को जानने के मुख्य स्रोत प्लेटो तथा अरस्तू के ग्रंथ हैं। प्लेटो के साहित्य का अध्ययन करनेवाले बिद्वानों[2] के बिचार से अपॉलॉजी, क्रीटो, यूथीफ्रोन, लैचेज, अर्यान, प्रोटैगोरस, कारमिडीज़, लाइसिस नामक सवादो मे आद्योपात तथा रिपब्लिक के पहले भाग मे सुकरात के ही विचार मिलते हैं। इसी लिए, प्लेटो के उपर्युक्त सवाद सुकरातीय कहे जाते है। अरस्तू ने अपनी 'मेटाफ़िज़िका' नामक तत्त्व-विद्या सम्बन्धी पुस्तक मे तथा 'एथिका निकोमैकिया', 'एथिका यूडीमिया' एव 'मैग्ना मोरेलिया' नामक नीतिशास्त्र की पुस्तको में सुकरात के दार्शनिक तथा नीति-सम्बन्धी मतो के उद्धरण देकर, उन पर अपनी समीक्षाएं

१. ग्रोटे : यूनान का इतिहास, भाग ८, अ० ५७, पृ० ५५२

२. टेलर, ए० ई० : 'प्लेटो द मैन एण्ड हिज़ वर्क्स', कौपुल्स्टन, फ्रेडरिक : 'ए हिस्ट्री ऑव फ़िलॉसॉफ़ी', भाग १

प्रस्तुत की है। जेनोफोन की 'मेमोरेबिलिया'[1] से भी सुकरात के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें मालूम होती हैं, किन्तु उक्त ग्रंथ एक भक्त के संस्मरणों के रूप में है, इसलिए मतों के साक्ष्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। जेनोफोन की पुस्तक के विपक्ष में अरिस्टोफेनीज का प्रहसन[2] है, जिसमें सुकरात की भर-पेट खिल्ली उड़ायी गयी है। प्लेटो की अपॉलॉजी में उक्त प्रहसन का उल्लेख[3] मिलता है। पर, प्रहसन को भी किसी गंभीर विचार का आधार नहीं बनाया जा सकता।

तर्कशैली का विकास

अरस्तू की 'मेटाफिजिका' में सुकरात को तर्क की आगमन-पद्धति[4] तथा सामान्य परिभाषा (Universal Definition) का आविष्कारक बतलाया गया है।[5] प्लेटो के संवादों से तथा जेनोफोन की मेमोरेबिलिया से भी अरस्तू के उक्त कथन की पुष्टि होती है। दोनों में सुकरात के संवाद हैं, जिनमें वह साहस, मिताचरण (Temperance), न्याय आदि नैतिक गुणों की परिभाषाएँ निश्चित करने के प्रयत्न करता हुआ दिखाया गया है। इन्हीं प्रसंगों में सुकरात की आगमन-पद्धति का परिचय मिलता है। पहले वह किसी परिचित उदाहरण के आधार पर अपने प्रत्ययों की परिभाषा बना लेता था। फिर, वह दूसरे उदाहरण लेकर देखता था कि उसकी पूर्वकल्पित परिभाषा ठीक है अथवा नहीं। त्रुटि दिखाई देने पर वह परिभाषा में सुधार

१. जेनोफ़ोन : मेमोरेबिलिया ऑव सॉक्रेटीज, एव्रीमैन्स लाइब्रेरी
२. कॉमेडीज ऑव अरिस्टोफ़ेनीज, एव्रीमैन्स लाइब्रेरी, में 'द क्लाउड्स' पढ़िए
३. फ़ाइव ग्रेट डायलॉग्ज, वॉन नॉस्ट्रैंड कं०, न्यूयार्क, में संगृहीत अपॉलॉजी, पृ० ३२२
४. प्रस्तुत दृष्टान्तों के आधार पर किसी सामान्य नियम का अनुमान करने की पद्धति (Method of Induction)
५. अरस्तू : मेटाफ़िजिक्स, १०७८–बी, १७
६. जेनोफ़ोन : मेमोरेबिलिया (एव्रीमैन्स), अध्याय ९, पृ० १६

कर लेता था। इस प्रक्रिया को वह तब तक जारी रखता था, जब तक उसे नवीन उदाहरण मिलते जाते थे।

ध्यान देकर देखें तो सुकरात की परीक्षण-विधि केवल आगमनात्मक अथवा निगमनात्मक नहीं है। वह एक ही उदाहरण का विश्लेषण कर एक सामान्य परिभाषा बना लेता था। फिर, जैसे-जैसे उस परिभाषा का अन्य उदाहरणों पर प्रयोग करता जाता था, उसकी परिभाषा विस्तृत होती जाती थी। उदाहरणों के सहारे परिभाषा का विकास होने से उसकी विधि आगमनात्मक है, किन्तु चिंतन के प्रत्येक स्तर पर कल्पित परिभाषा का विशिष्ट उदाहरण पर प्रयोग करने से निगमन[1] भी होता जा रहा है।

इसी पद्धति में द्वन्द्वात्मक विधि[2] तथा अविरोध के नियम के भी दर्शन होते हैं। परिभाषा के विकास में विभिन्न स्तरों की परिभाषाओं की एक शृंखला बनती थी। इनमें से अन्तिम परिभाषा को छोडकर, शेष सभी परिभाषाओं का, दिये हुए उदाहरण पर प्रयोग होने पर किसी न किसी तथ्य से विरोध पडता था। तभी उनमें सुधार की आवश्यकता होती थी। यदि अविरोध[3] के नियम का पालन न किया जाता, तो एक ही परिभाषा का उत्तरोत्तर विकास न होकर एक ही प्रत्यय की बहुत-सी परिभाषाएँ प्राप्त होती। विरोध के आग्रह से परिभाषा में परिवर्तन किये जाने पर नवीन परिभाषा को अस्वीकृत परि-भाषा में निहित पूर्व-वाद और उसके मानसिक प्रति-वाद का संवाद मानना

१. सामान्य नियम को विशिष्ट उदाहरण पर घटित करते हुए अनुमान करने की पद्धति
२. प्रश्नोत्तर के रूप में, पारस्परिक खंडन-मंडन से निष्कर्ष का विकास करने की विधि। प्लेटो के संवादों में इसी विधि का प्रयोग किया गया है। अंग्रेजी में इसे 'डायलेक्टिकल मैथड' (Dialectical Method) या 'डायलेक्टिक्स' (Dialectics) कहते हैं
३. इस नियम के अनुसार, एक ही देश-कालगत संदर्भ में, दो विरोधी अनुमान एक साथ सत्य नहीं हो सकते। अंग्रेजी में इसे Principle of contradiction या Non-contradiction कहते हैं

पड़ेगा। अतएव, सुकरात को परिभाषा की विधि तथा आगमन और निगमन की विधियों के साथ-साथ द्वन्द्वात्मक विधि और अविरोध के नियम का विकास करने का भी श्रेय मिलना चाहिए।

नैतिक चिंतन का विकास

विषय की दृष्टि से सुकरात को ही नैतिक चिंतन की प्राथमिकता स्थापित करने का श्रेय मिलना चाहिए। अरस्तू ने मेटाफिजिक्स (तत्त्व विद्या) में उल्लेख किया है कि सुकरात ने, भौतिक समस्याओं की ओर ध्यान न देकर, अपने को आजीवन नैतिक परामर्शों में सलग्न रखा। अरस्तू ने यह भी लिखा है कि सुकरात का प्रयत्न नैतिक जीवन के पथ-प्रदर्शन के लिए किसी सार्वभौम सत्य की खोज करने का था।[1] प्लेटो के 'फ़ीडो' नामक संवाद में, मृत्यु से पूर्व सुकरात ने अपने उपस्थित मित्रों तथा शिष्यों से कहा है कि "जब तक हम शरीर में हैं और शरीर के दुर्गुणों से हमारी आत्मा दूषित है, तब तक हमारी इच्छा पूर्ण न होगी और वह है सत्य को प्राप्त करने की।"[2] सुकरात नैतिकता का अर्थ सद्व्यवहार-मात्र नहीं समझता था। वह कर्मवाद में विश्वास करता था और मानव-जीवन को सत्य ज्ञान के अनुसंधान का माध्यम समझता था। वह कर्म और ज्ञान के समन्वय का पोषक था। उसके विचार से सत्य ज्ञान के अनुरूप जीवन बिताना ही सच्ची नैतिकता है।

सुकरात का ज्ञान-सिद्धान्त

सुकरात के विचारों को ठीक-ठीक जानने के लिए उसके ज्ञान-सिद्धान्त को समझना आवश्यक है। उसके अर्थ में, ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब आत्मा, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के बंधन से मुक्त होकर, सत्य का साक्षात्कार करे। वह कहता था कि सत्य का ज्ञान न होने के ही कारण, लोग अनैतिक कर्म करते हैं। मानव-बुद्धि पर उसे अधिक विश्वास न था। प्लेटो के 'फ़ीडो' में सुकरात ने कहा है—"विश्वास के योग्य प्रतीत होने पर भी मूल सिद्धान्तों

१. अरस्तू : मेटाफ़िज़िका, ९८७-बी, १-८
२. फाइव ग्रेट डायलॉग्ज, वान नास्ट्रैंड कम्पनी, न्यूयार्क, पृ० ९५

का भली-भाँति परीक्षण करना चाहिए। संतोषप्रद परीक्षण के बाद, मानव-बुद्धि पर पूरा भरोसा न करके, तर्क का अनुसरण करना चाहिए। इसमें भी सरलता और स्पष्टता का अनुभव होने पर ही समझना चाहिए कि अब अधिक छान-बीन की आवश्यकता नहीं है।"[1] सुकरात के कथन से पता चलता है कि वह सत्य ज्ञान को कितना दुरूह मानता था। इसीलिए, उसने आजीवन अपने ज्ञान का परीक्षण करते रहने का सदैव उपदेश दिया।

सुकरात के धार्मिक विचार

वह डेल्फी के 'अपॉलो' का भक्त था और उसी को अपने जीवन का पथ-प्रदर्शक मानता था। उसका विश्वास था कि 'अपॉलो' उसे समय-समय पर, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का ज्ञान कराने के लिए, संकेत करता रहता था। प्लेटो की 'अपॉलॉजी' में, सुकरात ने यह बात न्यायाधीशों के सामने भी कही थी। इससे पता चलता है कि वह सत्य ज्ञान की उपलब्धि के लिए, परीक्षण के अतिरिक्त, नैतिक जीवन बिताकर, दैवी पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना भी आवश्यक समझता था। इसीलिए, वह विज्ञान को भाग्याधीन मानता था और अरस्तू ने इसके लिए उसकी आलोचना की है।[2] किन्तु दोनों की दृष्टियों में अन्तर है; सुकरात विज्ञान का अर्थ पारमार्थिक ज्ञान और अरस्तू तार्किक ज्ञान समझता था।

प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०)

सुकरात ने सबसे अधिक प्लेटो को प्रभावित किया था। वही सुकरात के शिष्यों में सबसे अधिक प्रतिभावान् था। जिस समय सुकरात को मृत्यु-दंड मिला था, प्लेटो की अवस्था अट्ठाईस वर्ष थी। उस समय तक प्लेटो का विचार राजनीतिक जीवन बिताने का था, किन्तु सुकरात को अन्यायपूर्ण दण्ड दिये जाने पर उसने अपना विचार बदल दिया। अब उसने अपनी शिक्षाओं के द्वारा ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करने का संकल्प किया, जो शासन-सत्ता को अपने हाथ में लेकर, नैतिक राज्य की स्थापना कर सकें। अपना कार्य पूरा करने

१. फाइव ग्रेट डायलॉग्ज, वाल्टर ब्लैक कं०, पृ० १४६
२. यूडोमियन एथिक्स, भाग ७, १२४७ बी, १५-१८

के निमित्त सुझाव प्राप्त करने के लिए, वह दस वर्ष मिस्र, सिसली, इटली आदि स्थानों में घूमता रहा। इसी बीच, सिराक्यूज के डायोनीसियस प्रथम के संपर्क मे रहकर, उसने तानाशाही की गति-विधि का अध्ययन किया। अन्त मे, वह ३८९ ई० पू० मे एथेन्स वापस आया और वहाँ पर 'अकादमी' नामक एक शिक्षण-संस्था की स्थापना की।

प्लेटो स्वय अपनी संस्था का प्रधान बना और इस संस्था मे उसने सुकरात के विचारो के अनुरूप शिक्षा देना आरम्भ किया। 'अकादमी' की शिक्षा के द्वारा, वह एथेन्स की शासन-व्यवस्था मे आमूल परिवर्तन करने की अभिलाषा कर रहा था। 'अकादमी' के विद्यार्थियो को पहले गणित, ज्योतिष, संगीत, तर्कशास्त्र, राजनीति, और नीतिशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। इन विषयो मे पारगत हो जाने पर, उन्हे अध्यात्म-विद्या के उपदेश दिये जाते थे।

बारह वर्ष तक 'अकादमी' का संचालन करने के बाद प्लेटो, ३६७ ई० पू० मे, सिराक्यूज गया। इस समय डायोनीसियस प्रथम की मृत्यु हो चुकी थी और उसका पुत्र जो अभी कमउम्र था डायोनीसियस द्वितीयके नाम से शासन का भार सँभाल रहा था। प्लेटो को अपना कार्य पूरा करने का अवसर दिखाई दिया। उसने सोचा कि युवा शासक को प्रभावित कर नैतिक राज्य की स्थापना करायी जा सकती थी। किन्तु वहाँ प्लेटो की दाल न गली और वह वापस चला आया। फिर भी वह पॉच वर्ष तक इसी प्रयत्न मे लगा रहा। ३६२ ई० पू० मे वह अन्तिम बार सिराक्यूज को गया और सदैव के लिए निराश होकर चला आया। उसकी 'अकादमी' बराबर चल रही थी और ३४७ ई० पू० तक वह अपना सारा समय शिक्षण-कार्य करने और संवाद लिखने मे लगाता रहा।

प्लेटो के ग्रंथ

प्लेटो ने अपने जीवन के बयालीस वर्ष शिक्षा देने और संवाद लिखने में व्यतीत किये। परंपरा से, छत्तीस संवाद प्राप्त हुए हैं, जो प्लेटो के कहे जाते हैं। इन संवादों को ईसा की पहली शताब्दी मे, थ्रेसाइलस नाम के किसी संपादक ने चार-चार संवादों के नौ भागों में, संगृहीत किया था। आधुनिक काल के विद्वान् इनमे से कुछ को अप्रामाणिक मानने लगे हैं, किन्तु ए० ई० टेलर

ने अट्ठाईस को और फ्रेडरिक कौपुल्स्टन ने चौबीस को निर्विवाद रूप से प्लेटो द्वारा लिखा हुआ माना है[1]।

विद्वानों का विचार है कि प्लेटो ने अपने प्रारंभिक संवादों में सुकरात के विचार दिये हैं और बाद के संवादों में अपने विचार दिये हैं। जिन संवादों में सुकरात के विचार मिलते हैं उनके नाम ऊपर दिये जा चुके हैं। 'सिम्पोजियम', 'फीडो', 'रिपब्लिक' (पहला भाग छोड़कर), 'फीड्रस', 'थीटीटस', 'पारमेनाइडीज', 'सोफिस्ट', 'स्टेट्समैन', 'फिलेबस', 'टाइमियस', 'क्रिटियस', 'लाज' और 'एपीनोमिस' को प्लेटो के विचारों का द्योतक माना जाता है। संवादों के ढाँचे से तो यह निर्णय कर पाना बड़ा कठिन है कि प्लेटो का मत किस संवाद में है, क्योंकि 'लाज' को छोड़कर सभी में सुकरात प्रमुख वक्ता है। 'फीडो' को प्राय सुकरातीय नहीं माना जाता, पर वही एक ऐसा संवाद है जिसमें सुकरात के मुख से उसकी अन्तिम शिक्षाएँ कहलायी गयी हैं। ऐसी दशा में हमें परम्पराओं पर विश्वास करना पड़ेगा।

इन संवादों में प्लेटो के भौतिक दर्शन, ज्ञान-सिद्धान्त, आत्मा के विज्ञान, प्रत्ययवाद, नैतिक दर्शन, राजनीति-शास्त्र तथा शिक्षा, कला और सौन्दर्य-सम्बन्धी विचारों का परिचय मिलता है।

प्लेटो का भौतिक दर्शन

अपने गुरु सुकरात की भाँति प्लेटो भी भौतिक विषयों की ओर से अधिकतर उदासीन ही रहा। केवल उसके 'टाइमियम' नामक संवाद में, मुख्य पात्र टाइमियस सृष्टि की कथा कहता है।[2] उसका कथन है कि ईश्वर ने, सबसे पहले, अग्नि, पृथ्वी, जल और वायु को, जो पहले से विद्यमान थे, तीन भागों में बाँटा। अग्नि और पृथ्वी को अलग कर, उसने जल और वायु को उनके बीच में रख दिया। इस प्रकार दिखाई देनेवाले आकाश की उत्पत्ति हुई। तब उसने आत्मा को आकाश के मध्य में रखकर नित्य जगत् की रचना की।

१. टेलर और कौपुल्स्टन के ग्रंथों के नाम पीछे, पाद-टिप्पणी में, दिये जा चुके हैं

२. देखिए, प्लेटो के संवाद, रैन्डम हाउस, न्यूयार्क, का संस्करण, भाग २, पृ० सं० १२

इस विवरण में आत्मा की उत्पत्ति के विषय में टाइमियस का कहना है कि ईश्वर ने, अविभाज्य तथा अपरिवर्त्तनशील तत्त्व और विभाज्य तथा शरीरों से सम्बन्ध रखनेवाले तत्त्व से, एक तीसरे प्रकार का तत्त्व तैयार किया। फिर, इस प्रकार बने हुए तीन तत्त्वो से आत्मा का निर्माण किया। फिजिका (भोतिकी) में अरस्तू ने बतलाया है कि प्लेटो 'महत्' (The Great) और 'अल्प' (The small) को नित्य तथा अनन्त मानता था। अरस्तू के ही अनुसार, इन दो तत्त्वो से जिस तीसरे तत्त्व की रचना हुई थी, वह 'देश' था।[1]

किसी प्रकार, इस विवरण से हम यही नतीजा निकाल सकते हैं कि प्लेटो के अनुसार, नित्य ससार का शरीर अग्नि और पृथ्वी आदि चार स्थूल तत्त्वो से बना है। इस शरीर के चरणों में पृथ्वी ओर शीर्ष पर अग्नि है। बीच का भाग जल और वायु-मय है। आत्मा इस शरीर का प्राण है, जो तीन तत्त्वो से बनी है।

टाइमियस के अनुसार, नित्य संसार की रचना ईश्वर के शाश्वत संकल्प के अनुसार हुई थी। इस ससार को बना लेने पर रचयिता ने इसका एक प्रतिरूप बनाने का विचार कर 'समय' उत्पन्न किया। समय में 'गति' उत्पन्न हुई, जिससे 'था', 'है' और 'होगा', अथवा भूत, वर्तमान और भविष्य आदि भेद उत्पन्न हो गये। अब, उसने शाश्वत रचना के प्रतिरूप की रचना की। मूल रचना में चार तत्त्व थे, इसलिए उसने चार प्रकार के प्राणी उत्पन्न किये। ये थे आकाश के देवता, वायु मे विहरण-शील पक्षी, जलचर तथा अनेक प्रकार के भूमिचर।

उक्त सवाद के विश्व-रचना-सम्बन्धी प्रसंग मे किसी प्रकार का विवाद नही है। टाइमियस कहता है, अन्य पात्र सुनते है। पूरे सवाद को पढ़कर यही लगता है कि प्लेटो, रचना के प्रसंग मे, अपनी परपरानुमोदित धार्मिक धारणाओं को प्रश्रय देना चाहता था। कुल मिलाकर वह इतना ही कहना चाहता है कि ईश्वर ने स्थूल और सूक्ष्म तत्त्वो के संयोग से स्वर्ग का निर्माण किया जो नित्य है, शाश्वत है, पूर्ण है। फिर, उसीने इसका अपूर्ण रूप उत्पन्न

१. अरस्तू : फ़िजिका, २०९ बी, ११-१५

किया, जो हमारा जगत् है। इन दोनो मे, सत्य और सत्य के प्रतिरूप का सम्बन्ध होने से नित्य और अनित्य का, सत् और असत् का द्वन्द्व वास्तविक नहीं रह जाता। व्यवहार को परमार्थ का प्रतिरूप बताकर प्लेटो उस खाई को भर देना चाहता था, जो हेराक्लाइटस और पारमेनाइडीज ने परिणाम (Becoming) और सत्ता की समस्याएं उठाकर पैदा कर दी थी। उसने टाइमियस से कहलाया भी है कि सत्य ससार का ज्ञान बुद्धि से होता है, असत्य का इन्द्रियो से, किन्तु असत्य केवल भ्रम नही है, क्योकि वह सत्य की छाया है। सचमुच, प्लेटो का भौतिक दर्शन उसके अध्यात्म-वाद की अस्पष्ट छाया है।

प्लेटो का ज्ञान-सिद्धान्त

'थीटीटस' नामक सवाद से प्लेटो के ज्ञान-सम्बन्धी मत का पता चलता है। सुकरात को ज्ञान की प्रकृति के विषय मे जिज्ञासा होती है और वह थीटीटस तथा थियोडोरस नामक दो मित्रो के सहयोग से किसी न किसी निर्णय पर पहुँचना चाहता है। विचार का मार्ग बताने के लिए, सुकरात अपने सहयोगियो को हेराक्लाइटस के तत्त्व-विज्ञान और प्रोटैगोरस के ज्ञान-सिद्धान्त का स्मरण कराता है। दिये हुए संकेतों की प्रेरणा से थीटीटस कहता है कि 'प्रत्यक्ष ही ज्ञान है।'[1]

सुकरात इस विचार की आलोचना करता है। उसका कहना है कि प्रत्यक्ष-मात्र को ही ज्ञान मान लेने पर एक तो प्रत्यक्ष से बाह्य ज्ञान की सभावना नष्ट हो जाती है, दूसरे स्मृति-जन्य ज्ञान के लिए स्थान नही बचता। फिर, वह प्रोटैगोरस के मत की तार्किक व्याख्या करता है। उसका कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति के प्रत्यक्ष को ज्ञान मानने पर तीन कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी—(१) दो व्यक्तियो के प्रत्यक्षों में भेद होने पर कोई निर्णय सभव नहीं होगा; (२) विपक्ष को असत्य सिद्ध नही किया जा सकेगा, और (३) विपक्ष को सत्य ज्ञान मानने पर प्रोटैगोरस की प्रतिज्ञा खडित हो जायगी।[2]

१. प्लेटो के संवाद (रैंडम हाउस), भाग २, पृ० १४६,१५४
२. संवाद, पृ० १७३-७४

इन तर्कों के आग्रह से थीटीटस अपना विचार वापस लेता है और 'उचित सम्मति' (Proper opinion) को ज्ञान कहता है। इसमे भी कठिनाइयाँ प्रदर्शित की जाने पर वह कहता है कि 'उचित सम्मति के साथ ही सम्मति की तार्किक व्याख्या जोड देने से वह ज्ञान कहलायेगी।' यह भी ठीक न ठहरने पर वह कहता है कि 'जिन वस्तुओं के सम्बन्ध मे सम्मति दी जाये उनका पारस्परिक भेद भी स्पष्ट कर दिया जाये तो वह ज्ञान होगा।"

सुकरात इन सबका भी खडन कर देता है और कहता है कि इस विवाद से पता चल गया कि कौन-कौन वस्तुएँ ज्ञान से भिन्न हैं। तब वह बतलाता है कि —(१) आत्मा सत् और असत् (Non-Being) की सामान्य धारणाओं मे भेद करती है। अन्य धारणाओं का ज्ञान शरीरेन्द्रियो से होता है। (२) सत् अथवा तत्त्व शाश्वत है। (३) इन्द्रियाँ अपने विषयो का ज्ञान कर लेती है, किन्तु उनके सार का तथा पारस्परिक विरोध का ज्ञान आत्मा ही, पर्यालोचन और तुलना के, द्वारा करती है। (४) जन्म से ही, इन्द्रियों के माध्यम से, आत्मा तक पहुँचते रहने पर, सामान्य सवेदो के सत्य का तथा उनके प्रयोग का ज्ञान शिक्षा और अनुभव से होता है।

यहाँ पर, निश्चय ही ऐन्द्रियिक ज्ञान (Sense-Knowledge) और आत्मिक ज्ञान (Spiritual Knowledge) मे भेद किया गया है किन्तु ऐन्द्रिक ज्ञान को असत्य और भ्रम नही बतलाया गया है। वह केवल अपूर्ण है पर शिक्षा और अनुभव से विकसित पर्यालोचन और तुलना की शक्तियाँ उसे पूर्ण बना सकती हैं। पूर्ण होने पर वह सामान्य अथवा सार्वभौम होता है। यह प्लेटो का ज्ञान-सम्बन्धी दर्शन है। किन्तु इसमे मनोवैज्ञानिक तथ्य भी है। सीखना (Learning), धारण करना (Retention), और प्रत्याह्वान (Recall), को ज्ञान का अवयव बताकर, स्मृति के अध्ययन के संकेत दिये गये है। संवेदन (Sensation), प्रत्यक्ष (Perception) और निर्णय (Judgment) तक, ज्ञान का

१. संवाद, पृ० १९०, २०६, २१४
२. संवाद, पृ० १८८-८९

विकास बताकर, सामान्य ज्ञानात्मक प्रक्रिया का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तु किया गया है। पर्यालोचन और तुलना को ज्ञान का माध्यम कहकर चिंतन की प्रक्रिया के अध्ययन के सुझाव दिये गये है। शिक्षा और अनुभव को ज्ञान का आधार बताकर सीखने की क्रिया के अध्ययन की पीठिका बना दी गयी है। कमी केवल उचित विश्लेषण की है, किन्तु इस विश्लेषण के लिए शताब्दियों तक अध्ययन और चिंतन की आवश्यकता थी। प्लेटो तो पहला व्यक्ति था, जिसने भावी अध्ययन के लिए ये उपयोगी संकेत छोड़े थे।

प्लेटो का आत्म-विज्ञान

प्लेटो के सभी संवादो मे आत्मा के विषय मे कुछ न कुछ कहा गया है, किन्तु 'टाइमियस', 'फीडो', 'फीड्रस' और 'लाज' से मुख्य बातो का सग्रह किया जा सकता है।

टाइमियस[1] के अनुसार, आदि देव (First god) ने एक अमर आत्मा को उत्पन्न किया था। उसके पुत्रों अथवा देवताओं ने उसे पहले दो भागो मे बाँटकर, एक भाग को सिर मे और दूसरे भाग को हृदय मे कण्ठ तक स्थान दिया। फिर, दूसरे भाग के भी दो भाग किये। इनमे से एक को कण्ठ से रीढ की हड्डी तक और दूसरे को रीढ की हड्डी मे नाभि तक सीमित कर दिया। इस प्रकार एक आत्मा के तीन विभाग बन गये। इनमे से सिर मे रहनेवाली आत्मा अमर है, शेष दो प्रकार की नश्वर। किन्तु शरीर के नीचेवाले भागो मे स्थित आत्मा अमर आत्मा के अधीन रहती है।

आत्मा का प्रसग 'फ़ीडो'[2] मे भी आया है, किन्तु दूसरे रूप में। वहा पर शरीर और आत्मा के सम्बन्ध की चर्चा हुई है। सुकरात ने, दृष्ट (Perceptible) और अदृष्ट (Imperceptible) भेद से, दो प्रकार के अस्तित्व बतलाये है। दृष्ट को परिवर्तनशील और अदृष्ट को अपरिवर्तनीय कहा गया है। इस विभाजन के पश्चात् शरीर को दृष्ट और आत्मा को

१. प्लेटो के संवाद (रेंडम हाउस), भाग २, पृ० ४८
२. फ़ाइव ग्रेट डायलाग्ज़, पृ० ११२, ११४-१५

अदृष्ट अस्तित्व बताया गया है। आगे चलकर, सुकरात के ही माध्यम से यह भी सूचित किया गया है कि शरीर और आत्मा का संयोग होते ही शरीर-धर्म आत्मा की आज्ञा का पालन करना और आत्मा का धर्म शरीर पर शासन करना हो जाता है।

'फ़ीडो' मे आत्मा की मृत्यु के बाद की दशाएँ भी बतलायी गयी है। जीवनकाल मे शरीर से उदासीन रहनेवालो की आत्मा मृत्यु के बाद ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करती है। यही जीवन का परम शुभ है। इसके विपरीत, शरीर में रहने के समय, जो आत्मा शरीर से पूरा लगाव मानती है, वह बार-बार शरीरो से अपना सम्बन्ध स्थापित करती रहती है। यह मोक्ष (Liberation) और पुनर्जन्म (Rebirth) की बात है। इन दोनो अवस्थाओ को मानसिक दृष्टि पर निर्भर बताया गया है। प्लेटो के सुकरात ने दर्शन के अध्ययन से इस प्रकार की धारणा बन जाने को ही उक्त अध्ययन का लक्ष्य बतलाया है। किन्तु मोक्ष तभी प्राप्त होता है, जब अन्त समय मे भी यही धारणा बनी रहे। अन्त समय में जो शरीर का साथ नही छोड़ना चाहता वह बार-बार जन्म लेता है और बार-बार मरता है, भले ही उसने जीवनभर शरीर से लगाव न माना हो।

'लाज' में मृत्यु के बाद जीवन-काल के अपराधो के दण्ड भोगने की भी बात आयी है। दूसरे जन्म मे, पहले जन्म मे किये हुए अन्यायो का बदला चुकाने की भी बात कही गयी है। 'लाज' में सुकरात नही है। उसका स्थान किसी अपरिचित एथेन्स के निवासी ने ले लिया है। वह अपराधो की चर्चा करते हुए, सम्बन्धियों की हत्या को बहुत बड़ा अपराध बतलाता है। वही कहता है कि जीवन मे जिन अपराधो का दण्ड नहीं मिल पाता है उनके लिए मृत्यु-लोक मे यातनाएँ सहनी पडती है अथवा फिर जन्म लेकर उसे उसी प्रकार मरना पडता है, जैसे उसने पूर्वजन्म में दूसरे को मारा था। उक्त अपरिचित वक्ता के कथन का आधार गुप्त धार्मिक उपदेश है। यह प्रसग 'लाज' के नवे अध्याय मे आया है। इसे पढकर प्लेटो के अपने देश की धार्मिक परंपराओ के समर्थक होने में सदेह नही रह जाता।

प्लेटो का प्रत्ययवाद

प्लेटो ने अपने 'पारमेनाइडीज' नामक संवाद में सुकरात, जीनो और पारमेनाइडीज की बातचीत करायी है। सुकरात जीनो से पूछता है—"क्या तुम यह नही मानते कि समानता (Equality) और असमानता (Inequality) के प्रत्यय होते है ? इन्ही विरोधी प्रत्ययो के बीच, 'तुम' और 'मै' तथा तमाम वस्तुएँ, जिन्हे हम 'अनेक' कहते है स्थित है।" जीनो उत्तर नही देता। तब पारमेनाइडीज सुकरात से पूछता है—"क्या तुम 'समानता' से भिन्न 'समानता के प्रत्यय' के अस्तित्व मे तथा 'एक','अनेक' आदि के प्रत्ययो के भिन्न अस्तित्व में विश्वास करते हो ?" सुकरात ने कहा—"मै तो समझता हूँ कि ये होते है।" इस पर पारमेनाइडीज ने पूछा कि "फिर तो मिट्टी, कीचड़ और बालो आदि के भी प्रत्यय होते होंगे ?" सुकरात कुछ न कह सका और पारमेनाइडीज ने कहा, "अभी तुम बच्चे हो।'[1]

संभवत., सुकरात वस्तुओ और उनके प्रत्ययो के पार्थक्य की समस्या का निर्णय नही कर सका था। प्लेटो ने यह काम पूरा किया। अरस्तू ने लिखा है[2] कि प्लेटो को वस्तुओं मे वे सभी गुण न मिल सके थे, जो परिभाषाओ के अनुसार उनमें होने चाहिए। इसीलिए परिभाषाओं को वस्तु का रूप देकर उसने उन्हे 'प्रत्यय' कहा। इस विचार से, प्लेटो का प्रत्ययवाद (Theory of Ideas) वस्तुओ मे छिपे हुए सामान्य को वस्तुओं का रूप देने का प्रयत्न है। प्लेटो के 'प्रत्यय' ससार और उसके रचयिता के बीच के रिक्त स्थान को भरने का प्रयत्न करते है।

कहा जाता है कि प्रत्ययवाद प्लेटो की अनावश्यक सृष्टि (Creation) है। आलोचना के रूप में यह कथन ठीक हो सकता है, किन्तु प्लेटो ने प्रत्यय-सिद्धान्त के द्वारा अपनी नैतिक शिक्षा का मार्ग प्रशस्त करना चाहा था। वह कहना चाहता था कि इस लोक से परे एक सूक्ष्म सत्ताओ का लोक है, जो

१. डॉयलाग्ज ऑव प्लेटो, रैंडम हाउस का संस्करण, भाग २, पृ० ९०
२. अरस्तू : मेटाफ़िजिक्स, ९८७ बी, १-१०

सत्य है, पूर्ण है, सुन्दर है। उसी लोक की वस्तुओं का आश्रय पाकर, इस लोक की वस्तुएँ गुणवान् होती है। इस प्रकार, प्रत्ययो के लोक से विश्वास उत्पन्न कराकर, वह मनुष्यो को उसी पूर्ण लोक के आदर्शो को अपनाने के लिए प्रेरित करना चाहता था। प्लेटो के मतो को समझने के लिए ध्यान रखना पड़ेगा कि वह मूलत नैतिक विचारक था।

प्लेटो के नैतिक विचार

प्लेटो के नैतिक विचार 'फिलेबस' और 'लाज' नामक सवादो मे मिलते है। 'फिलेबस' मे वह पूर्णता को नैतिक शुभ (Ethical good) की प्रकृति मानता है और मानव-जीवन के सभी शुभो को पॉच श्रेणियो[1] मे बॉटता है। इस श्रेणी-विभाजन मे, उसने 'सतुलित', 'मध्यम' और 'उपयुक्त' (Suitable) को पहला, 'सुगढ़' (Symmetrical), 'सुन्दर' और 'पूर्ण' को दूसरा, 'बुद्धि और 'बुद्धिमत्ता' को तीसरा, 'विज्ञान', 'कला' और 'उचित सम्मति' को चौथा तथा 'सुख' को पॉचवाँ स्थान दिया था। इन शुभो की प्रकृति पर ध्यान देने से तनिक भी संदेह नही रह जाता कि प्लेटो बौद्धिक संतुलन को मानव-जीवन का मुख्य ध्येय अथवा परम शुभ मानता था। इसीलिए, उसने प्रथम श्रेणी के तीन शुभो मे 'संतुलन' को सर्वप्रथम स्थान दिया। उसके मत मे, ये सभी शुभ परस्पर असम्बद्ध नही है, बल्कि एक ही कर्म-शृखला के विविध अग है।

सतुलित मन से, योग्यायोग्य का विचार कर, मध्यमार्ग का अनुसरण करनेवाले व्यक्ति के कार्य सुगढ़, सुन्दर तथा पूर्ण हो सकते है। ऐसे ही कार्य करनेवाला व्यक्ति, धीरे-धीरे, बुद्धि का विकास कर, बुद्धिमान बनता है। किन्तु इस प्रकार कार्य करने के लिए, विज्ञानो के अध्ययन की, कलाओ के अभ्यास की और अनुभव-वृद्ध लोगो की सम्मतियो से शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। यदि किसी ने निरंतर अभ्यास कर इस प्रकार कर्म करने का स्वभाव बना लिया, तो निश्चय ही उसका जीवन सुखमय होगा। यही प्लेटो की नैतिक शिक्षा का वास्तविक अर्थ है।

१. प्लेटो के संवाद (रैंडम हाउस), भाग २, पृ० ४०१

प्लेटो जीवन को कला के रूप मे देखता था। पूर्णता उत्पन्न करने के लिए जिस प्रकार सामान्य कलाकार को, अपनी कलाकृतियो मे, अधिक से अधिक सुगढता एव सुन्दरता लाने का अभ्यास करना पड़ता है, अध्ययन और चितन करना पड़ता है तथा दूसरे श्रेष्ठ कलाकारो का, उनके समीप रहकर, अथवा उनकी कलाकृतियो को देखकर, अनुकरण करना पडता है, उसी प्रकार जीवन के कलाकार को भी निरतर अभ्यास की आवश्यकता है। उसे वैज्ञानिक का चितन और कलाकार का मनोयोग चाहिए। इसीलिए प्लेटो ने सबको उक्त विषयो की शिक्षा प्राप्त करने की सम्मति दी थी। प्लेटो के नैतिक उपदेश का सारांश यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन मे कलात्मक पूर्णता लाने के प्रयत्न करने चाहिए।

'लाज' की पहली पुस्तक मे प्लेटो ने एक बार फिर नैतिक प्रसंग उठाया है। यहाँ वह बुद्धिमत्ता, मिताचरण, न्याय और साहस को नैतिक गुण कहता है। इतना ही नही, वह इन्हे दैवी गुण ठहराता है और राज्य को ऐसी व्यवस्था करने की सम्मति देता है, जिससे नागरिको में उपर्युक्त गुण उत्पन्न हो सके। 'लाज' मे उसने इन गुणो के अतिरिक्त चार मानवीय शुभ बतलाये है। ये 'स्वास्थ्य', 'सौंदर्य', 'शक्ति' तथा 'अर्थ' (Wealth) हैं। वह इन्हें व्यवस्थित जीवन मे उपकारक मानता था और इसलिए उन्हे अर्जित करना सबके लिए आवश्यक समझता था।

प्लेटो के संवादो मे व्यावहारिक जीवन की संपन्नता के निमित्त कितने ही सकेत मिलते हैं, किन्तु उसकी नैतिक शिक्षा का कोई सुव्यवस्थित रूप नही है। ऐसा लगता है कि विस्तृत चितनशील जीवन में, मानवीय आचरण के जिन वाछनीय अवयवो की ओर उसका ध्यान गया, उन सबको 'शुभ' बतलाकर उसने उन्हे मानवीय आकाक्षा का विषय बताने का प्रयत्न किया। विभिन्न प्रसगो में परिगणित 'शुभो' को किसी एक ही संदर्भ मे उसने एकत्र नही किया। फिर भी, ऐसे सकेत मिलते हैं, जिनसे यह समझा जा सकता है कि वह सभी 'शुभो' को एक ही उद्देश्य का पूरक मानता था और वह उद्देश्य जीवन की पूर्णता है। इसे प्राप्त करने पर ही मनुष्य का जीवन सुखमय हो सकता है।

प्लेटो के राजनीति सम्बन्धी विचार

प्लेटो के राजनीति-सम्बन्धी विचार 'स्टेट्समैन' तथा 'लाज' मे मिलते है। नगर की व्यवस्था करना और नागरिको को नैतिक मार्ग पर चलाते रहना, वह राज्य का उत्तरदायित्व समझता था। किन्तु इसे दंड-विधान के द्वारा नहीं, उचित शिक्षा और निरीक्षण के ही द्वारा, वह सभव मानता था। इसीलिए, नियामक के उत्तरदायित्व गिनाते समय, उसने सामाजिक तथा व्यावसायिक जीवन के नियंत्रण के अतिरिक्त, वैवाहिक सबधों[1] से लेकर, बालको के खेल-कूद और शिक्षा[2] आदि का नियन्त्रण भी उसे सौंप दिया।

प्लेटो के विचार से, बालक की प्रवृत्तियाँ पैतृक गुणो पर निर्भर है। उसका स्वभाव माता और पिता के स्वभावो के योग से बनता है। इसलिए दाम्पत्य के निरीक्षण के बिना वांछित स्वभाव के बालक उत्पन्न नही किये जा सकते। 'स्टेट्समैन' में उसने कहा है कि शासक को ऐसे पदाधिकारी नियुक्त करने चाहिए, जो विवाह के पूर्व, भावी पति और पत्नी के गुणों की जॉच कर ले। साथ ही, नियमन के द्वारा, इस प्रकार की जॉच के बिना होने-वाले वैवाहिक सम्बन्धों को अवैध कर देना चाहिए। योग्य सम्बन्धों के निर्णय के लिए, उसने बताया है कि वैवाहिक सम्बन्ध मे 'साहस' और 'नम्रता' की मैत्री होनी चाहिए।

प्लेटो ने शासक के लिए, शिशुओं की देखभाल का अच्छा प्रबन्ध करना बहुत ही आवश्यक बतलाया है। उसने राज्य को शिशु-गृहो (Nuisurics) का समुचित प्रबन्ध करने की सम्मति दी है, क्योंकि शिशु की देखभाल शिक्षा का सबसे आवश्यक अग है। विद्यालय की शिक्षा के संबध मे भी प्लेटो ने सुझाव दिये थे। उसका कथन है कि बालको की पाठ्य पुस्तकों पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए, जिससे उनके हाथो मे सभी प्रकार की पुस्तकें न जा सकें। तभी उनमें वांछित विचार उत्पन्न किये जा सकेंगे।

१. प्लेटो के संवाद (रैंडम हाउस), भाग २, पृ० ४१२, ५३३, ३३७
२. प्लेटो के संवाद, पृ० ४२४, ५४४-७८

प्लेटो के अनुसार, बालकों के लिए लिखी हुई गद्य की पुस्तकों मे व्यवस्थित जीवन मे रुचि उत्पन्न करानेवाले विचार होने चाहिए। उनकी पुस्तक। मे युद्धों के वर्णन बिल्कुल न आने चाहिए, क्योंकि, उन्हे पढ़कर बालकों मे लड़ने-झगड़ने की प्रवृत्ति पैदा होती है, जो नागरिक व्यवस्था एवं शांत जीवन मे बाधा पहुँचाती है। बालकों को वे ही पाठ पढाये जाने चाहिए, जिनसे उन्हे शान्ति के लाभों का ज्ञान हो।

पद्य की पुस्तकों मे, देवताओं की प्रार्थनाएँ, नेताओं की प्रशस्तियाँ और शुभ कर्मों से सद्गति-प्राप्ति आदि विषय होने चाहिए। उनमे दूषित चरित्रों को स्थान नही मिलना चाहिए। राज्य को चाहिए कि कवियों के लिए नियम बना दे कि वे अपनी काव्य-कृतियों मे न्यायपूर्ण, सुन्दर तथा शुभ चरित्रों को ही स्थान दे।

इस प्रकार, नियन्त्रित शिक्षा के द्वारा तैयार किये हुए नागरिकों के सामाजिक आचरण का निरीक्षण करने के लिए, प्लेटो ने राज्य को निरीक्षक नियुक्त करने की सम्मति दी थी। उसने कहा कि चरित्र-निरीक्षकों को देखते रहना चाहिए कि नागरिक अपने से बड़ों का, देवभक्तों का तथा विदेशियों का सम्मान करते है अथवा नही। उन्हे यह भी देखना चाहिए कि नागरिक अपने आपको दूसरों से बढ़कर तो नही समझते है। संक्षेपत, प्लेटो ने राज्य को नागरिकों के शील और शिष्टाचार के निमित्त नियम बनाने और उन नियमों का पालन कराने के लिए उचित निरीक्षण का प्रबन्ध करने की सम्मति दी थी।[1] साथ ही, इस कठिन उत्तरदायित्व को सफलतापूर्वक वहन कर सकने के निमित्त, प्लेटो ने शासकों को उचित शिक्षा प्राप्त करने, राज्यकला को प्रोत्साहन देने, राज्य की सीमाओं को संकुचित रखने और अवाछित व्यक्तियों से राज्य को मुक्त रखने की भी सम्मति दी थी। उसका कहना था कि छोटे राज्य में व्यवस्था रखना उतना ही सरल है जितना किसी बड़े परिवार मे। इसलिए प्लेटो ने राज्य के सीमा-सकोच[2] पर बहुत बल दिया था।

१. प्लेटो के संवाद (रैंडम हाउस), भाग २, पृ० ४९७
२. संवाद, पृ० ४१०

प्लेटो के विचार से, शासक को बाल्यकाल से ही ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह संपूर्ण राष्ट्र को अपना परिवार समझ सके। उसे गणित, ज्योतिष और दर्शन का पंडित होना चाहिए। उसका बौद्धिक स्तर इतना ऊंचा होना चाहिए कि वह राष्ट्र के सभी सदस्यों की समस्याओं को समझ सके और विभिन्न परिस्थितियों में अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय कर सके। शासक में, प्लेटो के अनुसार, समदृष्टि होनी चाहिए, जिससे वह सबको समान न्याय दे सके। उसमें कौशल (Skill) होना चाहिए, जिससे वह नागरिकों के प्रति योग्य व्यवहार कर सके। सबसे अधिक, शासक में नागरिकों के हित की कामना होनी चाहिए।

वस्तुतः, प्लेटो उस राज्य की कल्पना कर रहा था, जिसमें नागरिकों और शासक के बीच उसी प्रकार के सम्बन्ध हों, जिस प्रकार के सम्बन्ध किसी विस्तृत परिवार में परिवार के सदस्यों और परिवार के बड़े-बूढ़ों के बीच होते हैं। वह नागरिकों में भी परस्पर वही सम्बन्ध चाहता था, जो परिवार के सदस्यों के बीच होते हैं। इन सम्बन्धों को वह शिक्षा और नियमन से संभव समझता था। यही उसकी राजनीति का सारभूत संदेश है।

प्लेटो के कला और सौंदर्य सम्बन्धी विचार

प्लेटो संपूर्ण विश्व को ही एक कला के रूप में देखता था। उसने अपने 'सोफिस्ट'[1] नामक संवाद में, कलाओं की चर्चा करते हुए, अपने मुख्य पात्र से कहलाया है कि संसार के पशु-पक्षियों, वनस्पतियों आदि को देखकर, हमें क्या कहना चाहिए? यह, कि इन्हें ईश्वर ने बनाया है, अथवा यह, कि इन्हें जड़ (Non-sentient) प्रकृति ने जन्म दिया है? प्लेटो के पात्र की बात सुनकर, हमें बरबस अपने शंकराचार्य की याद आ जाती है, जिन्होंने, ब्रह्मसूत्रों का भाष्य[2] करते हुए, सांख्यवादियों के विरुद्ध कहा था कि लोक में सुन्दर भवन आदि देखकर तो किसी अच्छे शिल्पी की कल्पना की जाती

१. संवाद, पृ० २७६, २२३-२४, २४०-४२

२. ब्रह्मसूत्र २।२।१ पर शाङ्कर भाष्य

है, किन्तु शरीरो और आत्माओ से युक्त ससार को देखकर उसे जड प्रकृति द्वारा निर्मित कहा जाता है। प्लेटो का उक्त विचार बहुत कुछ इसी प्रकार का है। वह विश्व को ईश्वर की कलात्मक प्रवृत्ति का फल मानता था। यह प्लेटो के कला-सम्बन्धी विचारो की पहली मान्यता है। रचना (Creation) और अनुकरण (Imitation) के भेद से, वह कला के भी सदा दो रूप मानता था।

उसके विचार से, 'रचना' में सत्य वस्तुओ की उत्पत्ति होती है और 'अनुकरण' के द्वारा सत्य वस्तुओं की अनुकृति उत्पन्न की जाती है। ये दोनों प्रकार की कलाएँ कर्त्ता के भेद से दो-दो प्रकार की होती हैं। प्लेटो का प्रथम कलाकार ईश्वर है, जिसने स्वर्ग की रचना की, अमर आत्मा की रचना की और देव-सृष्टि का प्रारभ किया। यह सत्य कला थी। इसी का अनुकरण कर देवताओ ने असत् ससार की उत्पत्ति की, जिसके फलस्वरूप मानवीय सृष्टि का विकास हुआ। इस प्रकार, दैवी कला के दो रूप उत्पन्न हुए। इसी का अनुकरण कर मनुष्यों ने भी दो प्रकार की कलाकृतियाँ उत्पन्न की। देवताओ के द्वारा निर्मित वस्तुओ का अनुकरण कर उन्होने वस्तुओ का निर्माण किया और फिर, उन वस्तुओं की आकृतियाँ भी बनायी।

यहाँ एक शका होती है कि मनुष्यो के लिए 'रचना' कैसे संभव है? वे तो स्वयं ही अनुकरण हैं। इसका उत्तर 'फ़ीड्रस' में मिलता है। सुकरात कहता है[1] कि पृथ्वी पर आने के पूर्व आत्मा अमरो के बीच निवास करती थी। अचानक कोई भूल हो जाने पर, उसके पख कट गये और वह पृथ्वी पर गिरी। इस कथन से यह सकेत मिलता है कि स्वर्ग से उतरी हुई आत्मा मे दैवी सस्कार रहते हैं। उन्ही सस्कारो के आधार पर, उसे इस भूलोक मे जहाँ कही स्वर्गीय सौन्दर्य की झलक मिलती है, वह आकृष्ट होती है और स्मृति से उसका सादृश्य उत्पन्न करने के प्रयत्न करती है। इस प्रकार, मानवीय 'रचना' होती है। यह रचना वस्तुत देवताओ के अनुकरणो का अनुकरण है। जिन मनुष्यो की

१. प्लेटो के संवाद (एड्रीमैन्स), सुकरात का भाषण, २४०-५५

आत्मा के सस्कार इतने स्पष्ट नही होते कि वे दैवी अनुकरणो का अनुकरण कर सके, वे मानवीय रचनाओं की अनुकृतियाँ बनाते रहते है ।

प्लेटो के कला-सम्बन्धी विचारो में उसकी धार्मिक भावना ही व्यक्त हुई है। प्रसगभेद से, वह वही बात कह रहा है जिसे वह अपने भौतिक दर्शन तथा प्रत्यय-वाद मे कह चुका था । वह इस दृष्ट जगत् को सत्य संसार का प्रतिबिम्ब मात्र समझता था। इसीलिए, इस संसार की वस्तुओ के सौन्दर्य को भी स्वर्ग के सत्य सौन्दर्य की आभा मानता था । इन्हीं विचारो के अनुरूप, उसने मानवीय कला को दैवी कला का अनुकरण बतलाया था ।

चिंतन के विकार की इस पीठिका पर अरस्तू का उद्भव हुआ । प्लेटो के समय तक जितने विचार-सूत्र एकत्र हुए थे, उसने उन सबकी व्याख्या की । विभिन्न विचारो का वर्गों मे विभाजन किया और वर्गीकृत मतो पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली । जहाँ कही विचार-शृंखला टूटी हुई दिखाई दी, उसने नयी कडियाँ जोडी । विचारों के मानदड निश्चित किये और जो उन पर खरे न उतरे, उनका उसने खडन किया । धार्मिक भावनाओ को अरस्तू अनावश्यक महत्त्व न दे सका । उसने ईश्वर के अस्तित्व का समर्थन किया, किन्तु ईश्वर की चर्चा का उसने क्षेत्र भी निश्चित कर दिया । भौतिक जगत् को समझने के लिए, आध्यात्मिक विचारो से काम न लेकर अरस्तू ने घटनाओं के निरीक्षण के आधार पर भौतिक नियमो की कल्पना की । यूनानी दर्शन के इतिहासो मे थेलीज नामक विचारक को पाश्चात्य ससार के प्रथम वैज्ञानिक का सम्मान दिया गया है, किन्तु सचमुच अरस्तू ही पहला विचारक था जिसने अध्ययन की वैज्ञानिक विधियो का विकास किया था । उसीने, पहले-पहल, विभिन्न भौतिक तथा मानवीय अध्ययनो के क्षेत्र निर्धारित करने पर भी बल दिया था । अगले पृष्ठो से पता चलेगा कि अरस्तू के चिंतन में यूनानी दर्शन का चरम उत्कर्ष प्राप्त होता है ।

अध्याय १

अरस्तू का जन्म और जीवन-वृत्त[1]

एशिया माइनर की कैल्किदिस नामक यूनानी बस्ती में, स्तैगिरा (Stagira) नामक स्थान पर, ईसा से ३८५ अथवा ३८४ वर्ष पूर्व, अरस्तू का जन्म हुआ था। उसके पिता निकोमैकस के पूर्वज, सभवत. ईसा पूर्व आठवी शताब्दी मे, माइसिनी मे आकर उक्त प्रान्त मे बस गये थे। अरस्तू की माता के पूर्वज कैल्किदिस अथवा कैल्किस के ही मूल निवासी थे। इस प्रकार, अरस्तू मे यूनानी और एशिया माइनर के रक्तो का सम्मिश्रण हो गया था और इस सम्मिश्रण का प्रभाव उसके द्विमुख दृष्टिकोण में स्पष्ट झलकता है। वह सत्य का अन्वेषण करनेवाला दार्शनिक था और भौतिक ससार का निरीक्षण करनेवाला वैज्ञानिक भी। अरस्तू ने उक्त दोनो प्रकार के संस्कारो मे समन्वय प्राप्त करने का पूरा प्रयत्न किया था, किन्तु उसके जीवन की घटनाएँ उसे कभी एक ओर और कभी दूसरी ओर खीचती रही।

बाल्यकाल

अरस्तू का बाल्यकाल मकदूनियाँ के राज-दरबार मे व्यतीत हुआ था, क्योकि उसका पिता चिकित्सक के रूप में सिकन्दर महान् के पितामह अमिन्तस द्वितीय के दरबार का सदस्य था। पर इस प्रभाव मे अरस्तू को

१. डायोजिनिस लीर्तियस : यूनानी दार्शनिकों के जीवन। अभाव में—डब्ल्यू. डी. रॉस, अरिस्टाट्ल; जी. आर. जी. म्योर, अरिस्टॉट्ल; ए. ई. टेलर, अरिस्टॉट्ल; डी. जे. एलेन, अरिस्टॉट्ल (होम यूनी. लाइ.) तथा जेलर, स्टेस और गाम्पर्ज के यूनानी दर्शन के इतिहास। 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' में दिया हुआ अरस्तू पर लेख भी उपयोगी है

अधिक समय तक न रहना पड़ा, क्योंकि छोटी उम्र मे ही उसके माता-पिता का देहान्त हो गया था और शेष बाल्यकाल उसे प्रॉक्जेनस नाम के किसी अपने सबधी के यहाँ व्यतीत करना पड़ा। अरस्तू का स्वभाव उपकार करनेवालो के प्रति अकृतज्ञ होने का न था। अन्त समय, उसने प्रॉक्जेनस के पुत्र नाइकेनर को अपने पुत्र निकोमैकस का सरक्षक नियुक्त किया और यह इच्छा प्रकट की कि बड़ी होने पर उसकी पुत्री पीथिया नाइकेनर की पत्नी बने।

प्रॉक्जेनस की सरक्षकता मे अरस्तू ने अपने जीवन के अट्ठारह वर्ष व्यतीत किये। लगभग उन्नीस वर्ष की उम्र मे प्लेटो की 'अकादमी' में शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त वह यूनान के प्रमुख नगर एथेन्स गया। प्राप्त आधारो से ज्ञात होता है कि उक्त 'अकादमी' मे वह उसी समय दाखिल हुआ था जब प्लेटो, डायोनीसियस द्वितीय की शिक्षा के निमित्त, सिराक्यूज गया हुआ था। अरस्तू बीस वर्ष प्लेटो की 'अकादमी' मे रहा। ईसा पूर्व ३४७ मे, प्लेटो की मृत्यु हो जाने पर, वह एक बार फिर यूनान से एशिया माइनर गया।

प्लेटो से मतभेद

कुछ इतिहासकारों के अनुसार प्लेटो और अरस्तू के सम्बन्ध बहुत अच्छे न थे। इसीलिए प्लेटो ने, अपनी मृत्यु के पूर्व, स्प्यूसिपस को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था और प्लेटो के बाद, 'अकादमी' का प्रधान न बन पाने के कारण ही, अरस्तू एथेन्स छोड़कर एशिया माइनर चला गया था। निस्सन्देह, अरस्तू सभी बातो मे प्लेटो से सहमत न था। प्राय अपने प्रत्येक ग्रंथ मे उसने प्लेटो के मतो की आलोचना की है। इसमें भी संदेह नही है कि वह, अपने विचारो का प्रचार करने के लिए, यूनान की किसी न किसी शिक्षण-संस्था का प्रधान बनना चाहता था। तभी तो, बारह वर्ष बाद, जब वह फिर एथेन्स वापस आया तो उसने 'लीकियम' नाम से अपने विद्यालय की स्थापना की। किन्तु यह मानने के लिए पर्याप्त आधार नही मिलते हैं कि उसकी प्लेटो से बनती न थी। स्टेस का कहना है कि प्लेटो से यदि उसकी अनबन

होती तो वह बीस वर्ष 'अकादमी' में रहता कैसे ? उसके 'अकादमी' के अध्यक्ष-पद पर नियुक्त होने की बात ही न थी, क्योंकि 'अकादमी' प्लेटो की अपनी निजी सपत्ति थी और स्प्यूसिपस ही उसका वैधानिक रूप से उत्तराधिकारी था।

अरस्तू और प्लेटो के मतभेद को व्यक्तिगत रूप नही दिया जा सकता। वह प्लेटो के विद्यालय का सर्वश्रेष्ठ स्नातक था। स्वय प्लेटो, उसे अपने विद्यालय का मस्तिष्क समझता था। अपनी मेटाफिजिका (तत्त्व-विद्या) मे, प्लेटो के मत का खंडन करते हुए, अरस्तू कहता है कि 'हमारा मत' समीचीन नही है।[1] एथिका निकोमैकिया (निकोमैकीय नीति) में, अरस्तू ने बहुत ही स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि सत्य के अनुसंधान में, अप्रिय होने पर भी, कुछ मता को नष्ट ही करना पडेगा। ऊपर दिखाया जा चुका है कि प्लेटो ने लौकिक शुभ की प्राप्ति के निमित्त अलौकिक शुभ की रूपरेखा बनायी थी। अरस्तू लौकिक दृष्टिकोण से ही सत्यासत्य का विवेक करता है। इसीलिए उसे प्लेटो की आलोचना करनी पडी थी।

बारह वर्षो के लिए एशिया माइनर जाने के पीछे, प्लेटो के पद-चिह्नो पर चलने की उसकी इच्छा भी तो हो सकती है। सुकरात से शिक्षा प्राप्त कर प्लेटो सिराक्यूज क्यों गया था ? इसीलिए न कि डायोनीसियस प्रथम और उसके बाद डायोनीसियस द्वितीय को प्रभावित कर, वह अपने नैतिक राज्य की स्थापना का स्वप्न सत्य में परिणत करना चाहता था। अरस्तू भी, एथेन्स से बाहर निकलकर, एसॉस पहुँचा था, जहाँ हरमियस फारस की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र शासक बन बैठना चाहता था।

हरमियस, प्लेटो की 'अकादमी' मे, अरस्तू का सहपाठी रह चुका था। उसने एसॉस में 'अकादमी' की एक शाखा भी स्थापित की थी और प्लेटो को कई बार अपने यहाँ आने का निमंत्रण भी दिया था। प्लेटो वहाँ जा न सका था और प्लेटो के जीवन-काल मे अरस्तू भी विद्यालय के कार्यो मे बहुत व्यस्त रहता था। किन्तु प्लेटो के निधन के पश्चात्, विद्यालय का भार स्प्यूसिपस पर था। अरस्तू उसे बहुत ही साधारण स्तर का व्यक्ति समझता

[1] मेटाफिजिका ९९० बी १०

था और उसे आशा न थी कि स्प्यूसिपस की अध्यक्षता में विद्यालय का वही सम्मान बना रहेगा, जो प्लेटो के समय में था। संभवत इन्ही कारणों से, वह एथेंस जाकर विद्यालय की वहां वाली शाखा को पुष्ट करना चाहता था। किन्तु अरस्तू के एथेंस पहुँचने के बाद ही एक ऐसी दुर्घटना हो गयी कि उसे शीघ्र वहाँ से भागना पड़ा।

एथेंस में हरमियस को फ़ारस-राज्य ने शासक नियुक्त किया था। किन्तु हरमियस एशिया माइनर को फारस के शासन से मुक्त कराना चाहता था। उसने मकदूनियाँ के फिलिप से पत्र-व्यवहार किया था और फारस-राज्य को उसके इरादों का पता चल गया था। एक दिन फारस के सेनापति ने हरमियस को किसी परामर्श के बहाने नगर से बाहर बुलाया और बन्दी बना लिया। हरमियस से मकदूनियाँ के मनसूबों को जानने का प्रयत्न किया गया और, न बताने पर, उसका वध कर दिया गया।

इस घटना के कारण, यूनानियों ने हरमियस को फ़ारस की बर्बरता से यूनानी सभ्यता को मुक्त कराने के प्रयत्न करनेवाला शहीद समझा और डेल्फ़ी में उसकी मूर्ति की स्थापना की। अरस्तू इस घटना के समय एथेंस में ही था। उसने हरमियस की प्रशंसा में काव्य-पंक्तियाँ लिखी, किन्तु इसी घटना के कारण उसे वह स्थान छोड़कर भागना भी पड़ा। उसके साथ ही हरमियस की भतीजी पीथिया भी भागी थी और बाद में, अरस्तू ने अपनी पत्नी बना कर उसे स्थायी साहाय्य प्रदान किया था।

घोर संकट का सामना

इस समय अरस्तू को घोर संकट का सामना करना पड़ा। हरमियस के निकट संपर्क में रहने के कारण उसे फ़ारस-राज्य के कर्मचारियों के द्वारा पकड़े जाने का पूरा भय था। पीथिया को साथ लेकर उसने शत्रुओं के संदेह को और भी बढ़ा दिया था। दूसरी ओर, उन दिनों के मार्ग लुटेरों से घिरे हुए थे। अरस्तू को उनका सामना भी करना पड़ा, किन्तु वह किसी प्रकार लेस्बॉस नामक द्वीप में पहुँचा। थियोफ़ैस्टस, जो अरस्तू के निधन पर उसके 'लीकियम' का संचालक बना था, इसी द्वीप के एरेसस नामक स्थान का निवासी

था। प्लेटो की 'अकादमी' मे अरस्तू से उसकी भेंट हुई थी। सम्भवत उनकी सहायता की आशा मे ही अरस्तू लेस्बॉस गया था। ईसा पूर्व ३४२ मे, मकदूनियाँ जाने के समय तक, वह इसी द्वीप मे रहा। अनुमान किया जाता है कि लेस्बॉस मे रहने के काल मे ही उसने वे जन्तु-विषयक निरीक्षण किये थे, जो उसके हिस्टोरिया एनीमैलियम (जन्तुओं के इतिहास) मे पाये जाते है।

फिलिप का निमंत्रण

ईसा पूर्व ३४२ मे, फिलिप का निमत्रण पाकर अरस्तू एक बार फिर उसी मकदूनियाँ दरबार मे पहुँचा जहाँ उसने अपने बचपन के कुछ वर्ष व्यतीत किये थे। अरस्तू के मकदूनियाँ जाने के सम्बन्ध मे बहुत से अनुमान किये जाते है। उसका पिता फिलिप के पिता का चिकित्सक रह चुका था, सिकन्दर जैसे होनहार राजकुमार के लिए शिक्षक की आवश्यकता थी और अरस्तू यूनान के सर्वश्रेष्ठ विद्यालय का सर्वश्रेष्ठ स्नातक था। पर, इतनी ही बात न थी।

हरमियस फिलिप से फारस के विरुद्ध पत्र-व्यवहार करने के अपराध मे पकडा गया था और धोखा देकर उसका बध किया गया था। इस घटना के बाद, फिलिप को एसॉस की गति-विधि का कुछ भी पता न चला होगा, क्योकि षड्यंत्र की सूचना मिल जाने से फारस राज्य ने नियंत्रण में वृद्धि कर दी होगी। अरस्तू हरमियस का विश्वासपात्र था और वह वही से भागकर लेस्बॉस पहुंचा था। फिलिप को हरमियस की दुर्घटना के सम्बन्ध मे यदि कुछ मालूम हो सकता था तो अरस्तू से ही। फिर, अरस्तू के प्रति फिलिप की सहानुभूति इसलिए भी रही होगी कि फिलिप के पक्ष मे षड्यन्त्र करने-वाले हरमियस से सम्बद्ध होने के कारण ही उसे भागा-भागा फिरना पड रहा था। सकट-काल मे भी उसने पीथियिया का, जिसे कुछ इतिहासकारो ने हरमियस की भतीजी और कुछ ने गोद ली हुई बेटी बतलाया है, साथ न छोडा था। वह अब अरस्तू की पत्नी थी। किन्तु व्यक्तरूप से वह सिकंदर की शिक्षा के ही निमित्त बुलाया गया था।

सिकंदर को शिक्षा देने मे अरस्तू उतना ही असफल रहा जितना प्लेटो

डायोनीसियस द्वितीय को शिक्षा देने मे रहा था। अरस्तू, प्लेटो की भाँति, नगर-राज्य का पोषक था और सिकदर की विशाल साम्राज्य की कामना समार में प्रसिद्ध है। अरस्तू को उसे शिक्षा देने के लिए अधिक समय भी नही मिला था। कुछ लेखकों[1] का अनुमान है कि वह सिकदर के राज्यारोहण के समय, ईसा पूर्व ३३६, तक उसे शिक्षा देता रहा था। शेप के विचार से[2], ईसा पूर्व ३४० मे, जब सिकदर अपने पिता के स्थान पर युवराज नियुक्त हुआ था, तभी उसने अरस्तू की शिक्षा मे मुक्ति प्राप्त कर ली थी और अरस्तू ने एथेन्स वापस आने तक का शेप समय अपने मातृ-स्थान स्तैगिरा मे बिताया था। अरस्तू के जीवन का यह काल अज्ञान के कोहरे से घिरा हुआ है।

निश्चित रूप से ३३५ ईसा पूर्व में अरस्तू एथेन्स वापस आया था। उक्त समय तक स्प्यूसिपस की मृत्यु हो चुकी थी और जेनोक्रेटीज प्लेटो के विद्यालय का अध्यक्ष था। अरस्तू की उससे मैत्री थी, किन्तु अरस्तू विद्यालय के दृष्टिकोण से सहमत न था। 'अकादमी' की गति-विधि मे परिवर्तन करना जेनोक्रेटीज के लिए संभव न था, क्योंकि उस काल की शिक्षा-पद्धति में, गुरु-शिष्य परपरा के द्वारा, मूल सस्थापक के दृष्टिकोण को प्रचलित रखना ही अभीष्ट था। इसलिए, अरस्तू ने 'लीकियम' नाम से अपना शिक्षा-केन्द्र अलग स्थापित किया।

अपने शिक्षालय में अरस्तू ने, बारह वर्षो तक, बडे ही अध्यवसाय के साथ काम किया। सभी प्राचीन मतो का उसने सग्रह किया। विषयानुक्रम से उनका उल्लेख करते हुए, उसने विद्यार्थियो को समझाने के लिए, व्याख्यानो के रूप मे, पाठ्य ग्रन्थों का निर्माण किया। उस समय तक जिन विषयो का समुचित विकास नही हो पाया था, उन्हे भी अरस्तू ने ऐसी स्थिति में कर दिया कि आगे आनेवाले विद्यार्थी, उसके पद-चिह्नों पर चलकर, उनको समृद्ध बना सके। अरस्तू का विस्तृत साहित्य इन्ही अंतिम बारह वर्षो के परिश्रम का फल है। कहते हैं कि अरस्तू ने, प्लेटो की भाँति, कुछ संवाद भी लिखे थे, किन्तु वे आज के किसी अध्येता को प्राप्त नही है।

१. डी. जे. एलेन : अरिस्टाट्ल, पृ० ५
२ डब्ल्यू डी रास तथा जी आर जी म्योर की पुस्तकों में पृ० ५

मकदूनिया से प्रवास और मृत्यु

अरस्तू का शिक्षण-कार्य, ईसा पूर्व ३२३ में, सिकंदर महान् की मृत्यु के साथ समाप्त हो गया। अरस्तू को मकदूनियाँ दरबार का संरक्षण प्राप्त था। वह सिकंदर के गुरु के रूप में सम्मानित था भले ही, सिकंदर की निकट तथा सुदूर देशों को अधिकृत करने की नीति से उसका कुछ भी सम्बन्ध न रहा हो। इसलिए, सिकंदर की आँखें बन्द होते ही, जब यूनान में सिकन्दर के अन्य रक्षितों पर आफत आयी, तब अरस्तू पर भी अधार्मिक होने का आरोप किया गया। इसके प्रमाण में, हरमियस के सम्मान में लिखी हुई पंक्तियों की ओर संकेत किये गये। उस समय, देवताओं की भाँति किसी मानव-व्यक्ति की प्रशस्तियाँ लिखना अधार्मिक कार्य समझा जाता था और अधार्मिकता ही एक ऐसा अभियोग था जिस पर सरलतापूर्वक प्राणदंड दिया जा सकता था। अरस्तू यूनानियों के इरादे को समझ गया। सुकरात की गति वह अपनी आँखों देख चुका था, किन्तु वह यूनानियों को दर्शन के प्रति दूसरी बार उस प्रकार का अत्याचार करने का अवसर देने के लिए तैयार न था। अतएव, वह अपने मित्र तथा अनुयायी थियोफ्रैस्टस को 'लीकियम' के संचालन का भार सौंप कर अपने मातृस्थान कैल्किस चला गया, जहाँ पर एक वर्ष बाद ईसा पूर्व ३२२ में उसकी मृत्यु हुई।

उसकी पत्नी पीथिया की पहले ही मृत्यु हो चुकी थी। उससे एक पुत्री उत्पन्न हुई थी, जिसका नाम, उसकी माता के नाम पर, पीथिया रखा गया था। अपनी प्रथम पत्नी के न रहने पर अरस्तू ने स्तैगिरा की किसी हरपीलिस से प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर लिया था, यद्यपि विहित रूप से उसे पत्नी नहीं बनाया था। हरपीलिस से भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, जिसका नाम, उसके पितामह की भाँति, निकोमैकस था। अरस्तू के अन्तिम इच्छा-पत्र से पता चलता है कि मृत्यु के समय वह पीथिया, हरपीलिस और निकोमैकस के अतिरिक्त, बहुत सी दास-दासियाँ और एक बड़ी संपत्ति छोड़ गया था। डायोजिनिस लीर्त्तियस ने 'यूनानी दार्शनिकों की जीवनियाँ' लिखते समय अरस्तू की अंतिम इच्छाओं का विवरण दिया है, जिससे उसके उदार स्वभाव तथा उसकी मानवीयता का परिचय मिलता है।

अपने बाल्यकाल के उपकार करनेवाले प्रॉक्जेनस के पुत्र नाइकेनर को वह अपनी संपत्ति का बहुत-सा भाग दे गया था और उसी को निकोमैकस की शिक्षा आदि का भार सौंप गया था। उसने यह भी इच्छा प्रकट की थी कि बड़ी होने पर उसकी पुत्री पीथिया नाइकेनर के साथ विवाह कर ले। हर-पीलिस के जीवन-यापन के निमित्त कुछ सपत्ति अलग कर गया था और अपनी पहली पत्नी पीथिया की अस्थियों को, अपनी अस्थियों के साथ, एक ही समाधि में रखने का आदेश दे गया था। अन्त समय, वह अपने दास-दासियों को भूला न था। बहुतों को उसने मुक्त कर दिया था और शेष के खर्चे का प्रबन्ध कर दिया था जिससे वे बेच न दिये जायं। इस प्रकार, तिरसठ वर्ष की आयु में अरस्तू की जीवन-लीला समाप्त हुई।

अध्याय २

अरस्तू का साहित्य

अरस्तू के ग्रंथ

अरस्तू के जितने ग्रंथ अंग्रेजी अनुवादों के माध्यम से प्राप्त हुए हैं उतने ही उसने नहीं लिखे थे। डायोजिनिस लिर्तियस ने, अरस्तू के ग्रथो का उल्लेख करते हुए, लगभग दो सौ ग्रथो की सूची दी है। उसकी सूची में कुछ संवादो के भी नाम हैं। इन सवादो का सिसरो आदि रोमन लेखकों के ग्रंथों मे भी उल्लेख हुआ है। किन्तु ये सवादग्रथ समय के गर्भ मे ही रह गये। डब्ल्यू० डी० रॉसके सकलन के बारहवें भाग मे दिये हुए अपूर्ण अवतरणो से भी अरस्तू के बहुत से ग्रथो के खो जाने की सूचना मिलती है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अरस्तू के खोये हुए ग्रथ उस काल के थे जिसमें वह प्लेटो की अकादमी मे था। उस समय अरस्तू प्लेटो से बहुत प्रभावित था और इसीलिए उसने अपने उस समय के ग्रथो मे प्लेटो की संवाद-शैली का प्रयोग किया था। इनमें से कई सवादो के नाम भी प्लेटो के सवादो से मिलते-जुलते हैं। कुछ के नाम सूचित करते हैं कि वे अकादमी छोड़कर मकदूनियाँ जाने और वहाँ से ई० पू० ३३५ मे अन्तिम बार एथेन्स वापस आने के बीचवाले समय मे लिखे गये होगे।

अरस्तू के प्राप्त ग्रंथो के विषय मे दो मत प्रचलित है। कुछ विद्वानो का कहना है कि अरस्तू ने इन्हे, भाषणों के रूप मे, विद्यार्थियो को शिक्षा देने के निमित्त लिखा था। अन्य विद्वानों के विचार से अरस्तू के प्राप्त ग्रंथ स्वयं उसके लिखे हुए नही है, बल्कि विद्यार्थियों ने उसके व्याख्यानों से इन्हे संकलित

किया था। इस प्रकार के प्रश्नों पर विचार करने से पूर्व हमें जान लेना चाहिए कि आधुनिक काल को अरस्तू के ग्रंथ कैसे प्राप्त हुए हैं।

पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि अरस्तू की मृत्यु के एक वर्ष पूर्व एथेन्स में उसका इतना विरोध हुआ था कि वह अपने 'लीकियम'[1] को थियोफ्रैस्टस के सहारे छोडकर कैल्किस चला गया था। इस विरोध का मुख्य कारण उसका विदेशी समझी जानेवाली शासन-सत्ता के साथ सहानुभूति-पूर्ण सम्बन्ध था। वह यूनान की मान्य सीमाओं के बाहर का व्यक्ति था भी। इसके विपरीत प्लेटो यूनानी था। वह यूनान में पैदा हुआ था और वहीं उसकी मृत्यु हुई थी। अरस्तू प्लेटो के विचारों से पूर्ण सहमत न था। प्लेटो के विरोध में ही उसने अपना शिक्षा-केन्द्र अलग स्थापित किया था। इन बातों के कारण भी सिकंदर महान् की मृत्यु के बाद उसे कैल्किस जाना पड़ा था।

अरस्तू के कैल्किस चले जाने के बाद, यूनान में अरस्तू के प्रति इतनी अश्रद्धा हो गयी थी कि थियोफ्रैस्टस और उसके बाद नीलियस[2] को अरस्तू के हस्तलिखित ग्रंथों को छिपाकर रखना पड़ा। ये ग्रंथ किन-किन हाथों में पड़े, कब कहाँ गये, कुछ भी ज्ञात नहीं, किन्तु पहली शताब्दी ईसा पूर्व के बाद रोम में इनका उदय हुआ। एन्ड्रॉनिकस इन ग्रंथों के प्राप्त होने की सूचना देता है और सिसरो (१०६ से ४३ ई० पू०) अपने ग्रंथों में अरस्तू के ग्रंथों का उल्लेख करता है। इस प्रकार, रोमन साम्राज्य में अरस्तू के अध्ययन की एक परंपरा का जन्म हुआ।

अरस्तू के अध्ययन की दूसरी परंपरा पूर्व में स्थापित हुई। एलेक्जेन्ड्रिया[3] में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ही दार्शनिकों की जीवनियाँ एकत्र की जा रही

१. 'लीकियम' अरस्तू के विद्यालय का नाम था, जिसे उसने ई० पू० ३३५ में एथेन्स वापस आने पर स्थापित किया था। उक्त नाम देने का कारण यह था कि अरस्तू ने अपालो लीकियस के मन्दिर के बाहरी भाग को किराये पर लेकर अपने विद्यालय की स्थापना की थी।
२. डी० जे० एलेन : द फिलॉसॉफ़ी ऑव अरिस्टॉट्ल्, पृ० १०
३. जेलर : 'आउटलाइन्स ऑव द हिस्ट्री ऑव ग्रीक फ़िलॉसॉफ़ी', पृ० ४-८

थी। उनके ग्रथो की सूचियाँ भी बनायी जा रही थी। इसी परंपरा मे असोनियस सैक्काज (१०६ से २४२ ई०) की शिक्षाओ से प्लेटो के दर्शन का एक रूप विकसित हुआ, जिसमे प्लेटो और अरस्तू की शिक्षाओ का मिश्रण हो गया था। इस केन्द्र से बहुत-सी शिक्षाएँ जो प्लेटो की थी अरस्तू के नाम से प्रचलित हो गयी।

एलेक्जेन्ड्रिया से ही, छठी शताब्दी मे, अरस्तू के कुछ ग्रंथ फ़ारस[1] पहुँचे और वहाँ उनका अरबी में अनुवाद हुआ। खुसरो नौशेरवाँ ने ५२९ ई० मे सात नवीन प्लेटोवादियों को अपने यहाँ शरण दी थी। उनकी सहायता से अरस्तू के तर्कशास्त्र का अरबी मे अनुवाद किया गया। यह परपरा चलती रही और नवी शताब्दी मे इसका काम बहुत जोर-शोर से प्रारभ हुआ। यह्या-इब्न-बितरीक ने अरस्तू की मीटिओरोलॉजिका (अन्तरिक्ष-विज्ञान की पुस्तक) तथा उसकी जन्तु-विज्ञान, मनोविज्ञान और भौतिक शास्त्र की पुस्तको के अनुवाद किये। इसी शताब्दी मे अल्-हिसी ने अरस्तू की 'सोफिस्टिस एलेंकिस' का अनुवाद किया। अल्-किंदी[2] ने, नवी शताब्दी मे, अरस्तू के दर्शन का अनुवाद प्रकाशित किया। इस प्रकार, अरस्तू का इस्लामी दार्शनिको के क्षेत्र मे काफी प्रचार हो गया।

फ़ारस मे अरस्तू के अध्ययन की एक लहर, इस्लामी दार्शनिको के साथ-साथ, स्पेन पहुँची। इब्नरुश्द (११२६ से ११९८ ई०) जिसे पाश्चात्य लेखक एव्रोज कहते है, कार्डोवा मे उत्पन्न हुआ था। उसने धर्मशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, गणित और दर्शन का अच्छा अध्ययन किया था। खलीफा अबू याकूब यूसुफ के कहने से उसने अरस्तू के ग्रथों का विवेचन किया था। ईसा की १३वी शताब्दी मे इब्नरुश्द के ग्रथों का लैटिन भाषा में अनुवाद होने से यूरोप को अरस्तू का पता लगा।

अब विचार करने की बात यह है कि अरस्तू ने कौन से ग्रथ लिखे थे? वे, जो पहली शताब्दी ईसा पूर्व के आस-पास रोम मे प्रचलित थे अथवा वे, जो

१. डी बोयर, इस्लामी दर्शन का इतिहास, परिचय—'ग्रीक साइंस', पृ० ११
२ बर्टैंड रसेल 'हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न फिलॉसॉफ़ी' अ० १० पृ० ४४३ ४९

एलेक्ज़ेन्ड्रिया, फ़ारस आदि से स्पेन पहुँचे थे ? निश्चय ही १३वीं शताब्दी ईसवी तक 'स्टोइक'-काल के ग्रथ नष्ट हो चुके थे, नहीं तो, इब्नरुश्द के ग्रथो के अनुवादों की आवश्यकता न होती। किन्तु यदि नीलियस के ग्रथ, जो अरस्तू के लिखे हुए थे, रोम पहुँच गये थे, तो यह मानना कठिन है कि पूर्व से आये हुए ग्रथ भी अरस्तू के हस्तलिखित ग्रथो पर आधारित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व में जिन ग्रंथो का अनुवाद हुआ था, वे अरस्तू की शिष्य-परपरा से प्राप्त हुए थे। किन्तु इन्हें अप्रामाणिक नही माना जा सकता। अरस्तू ने बारह वर्ष (३३५-३२२ ई० पू०) 'लीकियम' मे शिक्षा दी थी। इतने दीर्घ काल मे उसकी शिक्षाओ ने सप्रदाय का रूप ले लिया था। तभी तो अरस्तू के यूनान से चले जाने और यूनान मे उसका घोर विरोध होने पर भी उसके शिष्यो की परंपरा ने उसके ग्रथो को सुरक्षित रखने तथा उसकी शिक्षाओ का यूनान से बाहर प्रचार करने का प्रयत्न किया था। उन्होने, यथासभव, अरस्तू की शिक्षाओ को दूषित होने से भी बचाया होगा।

फिर भी, आज जो ग्रथ उपलब्ध है उन्हे मिश्रित स्वभाव का ही मानना पड़ेगा। यूनान से जो ग्रथ पूर्व की ओर गये थे उनके अरबी भाषा मे अनुवाद हुए थे। मूल यूनानी ग्रथो से अरबी के अनुवादो मे कुछ अतर अवश्य आ गये होगे। फिर, अरबी से स्पेन की भाषा मे और उससे लैटिन मे अनुवाद होने पर भी कुछ परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक ही है। आधुनिक सपादको ने 'स्टोइक (Stoic) काल के बचे-खुचे अशो और नवीन लेटिन के अनुवादो से सहायता लेकर ही अरस्तू के ग्रथ तैयार किये है। इसलिए, यह तो नही कहा जा सकता कि उपलब्ध ग्रथ उन्ही ग्रथों के अक्षरश: अनुवाद है, जो अरस्तू ने अथवा उसके शिष्यो ने लिखे थे। पर हमे यही मानना पड़ेगा कि शोध-कर्ताओ ने अरस्तू के ग्रथो को, जिस रूप मे प्रस्तुत किया है, वही उनका प्रामाणिक रूप है।

अरस्तू के साहित्य का शास्त्रों मे विभाजन

डब्ल्यू० डी० रॉस ने अरस्तू के ग्रंथों के अग्रेजी अनुवादो को बारह भागो में सकलित किया है। इस सकलन के ११ भागो मे छोटी-बड़ी ४९ पुस्तके

है। १२वें भाग में, प्राचीन लेखकों के ग्रंथों से संकलित, अरस्तू की खोई हुई पुस्तकों के उद्धरणों के अनुवाद हैं। इस विस्तृत साहित्य को मथकर, अरस्तू के तर्कशास्त्र, भौतिकविज्ञान, रसायन-विज्ञान, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन, नीतिशास्त्र, राजनीति-शास्त्र तथा साहित्य-समीक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले विचारों को एकत्र कर, अध्यायों में व्यवस्थित किया जा सकता है, यद्यपि यह कार्य बहुत सरल नहीं है।

अरस्तू ने अध्ययनों के विभाजन की समस्या पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा तो अनेक स्थलों पर है कि एक विज्ञान के अंतर्गत एक ही क्षेत्र की वस्तुओं पर विचार करना चाहिए, किन्तु प्राप्त साहित्य में इस नियम का उचित निर्वाह नहीं हुआ है। एक तो समय के प्रवाह में अरस्तू के मूल ग्रंथों का विषय-क्रम नष्ट हो गया है। दूसरे, अरस्तू के मस्तिष्क में विषय-विभाजन की योजना उतनी सीमित न थी जितनी अब हम चाहते हैं। उसने अपने संपूर्ण अध्ययन को सैद्धान्तिक (Theoretical), व्यावहारिक (Practical) और उत्पादन-सम्बन्धी (Productive) विज्ञानों में बाँटकर, सैद्धान्तिक विज्ञान के अंतर्गत दर्शन, भौतिक-शास्त्र (Physics) और गणित को रखा था, व्यावहारिक के अंतर्गत, नीति और राजनीति-शास्त्रों को तथा उत्पादन-सम्बन्धी विज्ञान के अंतर्गत कला-सम्बन्धी विवेचनों को रखा था। अरस्तू ने तर्क को वैज्ञानिक अध्ययन की विधि मानकर स्वतंत्र स्थान ही नहीं दिया था। अब हम तर्क को स्वतंत्र अध्ययन का विषय मानने लगे हैं और भौतिक अध्ययन में रासायनिक क्रियाओं के अध्ययन को रसायन-विज्ञान नाम देकर उसकी अलग सत्ता मानते हैं। इसी प्रकार, अरस्तू के मस्तिष्क में जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान की तथा नीतिशास्त्र और राजनीति-शास्त्र की विभाजन रेखाएँ भी बहुत स्पष्ट न थीं। सबसे बढ़कर तो यह बात थी कि वह सभी शास्त्रों को एक ही ज्ञानात्मक प्रवृत्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मानता था। इसलिए, उसके साहित्य में पारस्परिक सम्बन्धों की चेतना विभाजन से अधिक स्पष्ट हो सकी है। किन्तु अरस्तू के साहित्य में बिखरे हुए विचारों को एकत्र कर ऊपर गिनाये हुए नौ शास्त्रों की रूप-रेखाएँ तैयार की जा सकती हैं।

रॉस के उपर्युक्त सकलन के पहले भाग की ६ पुस्तकें 'कैटेगोरी', 'डी इन्टरप्रेटेशनी', 'अनालिटिका प्रायोरा', 'अनालिटिका पोस्टीरिओरा', 'टापिका' तथा 'डी सोफिस्टिस एलेकिस' अरस्तू की ज्ञान-मीमासा प्रस्तुत करते हुए उसके द्वारा प्रतिपादित तर्क-सम्बन्धी नियमो से परिचय कराती है। कैटेगोरी मे अरस्तू का द्रव्य (Substance) निर्णय है। जिस प्रकार, भारतीय वैशेषिक शास्त्र की 'सप्तपदार्थी' मे सत्ता-सूचक पदो के सात भेद किये गये है, उसी प्रकार अरस्तू की कैटेगोरी मे दस पदार्थों का जिन्हे द्रव्य कहना अधिक उपयुक्त है प्रतिपादन हुआ है। डी इन्टरप्रेटेशनी का विषय वाक्य (Propositions) व्याख्या है। अनालिटिका प्रायोरा तथा अनालिटिका पोस्टीरिओरा नामक पुस्तको मे दो प्रकार के तार्किक विश्लेषण है। अरस्तू तर्क का काम विश्लेषण करना समझता था। इसीलिए, उसने अपने तार्किक विवेचनों की मुख्य पुस्तको के नाम इस प्रकार रखे कि उनका अर्थ पूर्व-विश्लेषण तथा उत्तर-विश्लेषण समझा जा सके। इनमे से पहली पुस्तक मे न्याय के स्वभाव पर और दूसरी मे वैज्ञानिक विधि की विशेषताओं पर विचार किये गये है। टापिका में अविरोध के नियम का पालन करते हुए प्रस्तुत समस्याओ पर तर्क करने की रीतियाँ बतायी गयी हैं। इस समूह की छठी पुस्तक 'तर्काभासों' (Fallacies) पर है। अरस्तू के समय मे सोफिस्ट विचारक आभासित तर्क के लिए प्रसिद्ध थे। इसीलिए उसने अपनी पुस्तक का नाम 'सोफिस्टिस एलेकिस' अथवा 'सोफिस्टो के तर्काभास' रखा था।

रॉस के सकलन के दूसरे भाग की तीन पुस्तके, फिजिका, डी कीलो और डी जेनरेशनी एट करप्शनी तथा तीसरे भाग की दो पुस्तके, मीटिओरोलॉजिका और डी मुन्डो मिलकर अरस्तू के भौतिक तथा रसायन-विज्ञान से अवगत कराती है। फ़िजिका अरस्तू की 'भौतिकी' अथवा भौतिकशास्त्र की पुस्तक है, किन्तु इसके अनेक प्रसंगों मे तत्त्वो के स्वभाव आदि की बाते भी आ गयी है, जिन्हें रसायन-शास्त्र के अन्तर्गत रखना अधिक उपयुक्त है। डी कीलो चार भागों अथवा 'पुस्तको' मे बँटी हुई है। इसकी पहली तथा दूसरी पुस्तक मे आकाश-पिडो (Heavenly-Bodies) की गति पर विचार किया गया

है। तीसरी और चौथी पुस्तक मे भौतिक तत्वो की गति पर विचार किया गया है। अतएव इसे भौतिक-शास्त्र के अन्तर्गत अरस्तू की गति-विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तक कहा जा सकता है। किन्तु पहली पुस्तक के ११वे और १२वे अध्यायो में तत्वो की उत्पत्ति और उनके विनाश की प्रकृति पर विचार किया गया है। तीसरी पुस्तक के सातवे और आठवे अध्यायो मे तथा चौथी पुस्तक के चोथे, पॉचवे और छठें अध्यायों में तत्वो के विशिष्ट गुणो का चितन है। इन अशो को रसायन-शास्त्र के अतर्गत रखना समीचीन है। डी जेनरेशनी एट करप्शनी मे उत्पत्ति और विनाश (Generation and Corruption) की समस्याओ पर स्वतत्र रूप से विचार किया गया है। मीटिओरोलॉजिका अन्तरिक्ष-विज्ञान की पुस्तक है, किन्तु इसकी चौथी पुस्तक पूरी की पूरी रसायन-शास्त्र से सम्बन्ध रखती है। उक्त भाग मे मिश्रणो और यौगिको के स्वभाव पर, वस्तुओ के उबलने, पिघलने और जमने के विषय मे तथा घोलो के स्वभाव पर विचार प्रकट किये गये है। डी मुन्डो एक छोटी-सी पुस्तक है, जिसमे सिकदर को सबोधित कर, विश्व का विवरण दिया गया है। विद्वानो को इसकी प्रामाणिकता पर सदेह है।

रॉस के तीसरे भाग मे पार्वा नेचुरेलिया के अतर्गत सगृहीत चार पुस्तको, डी लांजीटयूडिनो एट ब्रिवेटिटी विटी, डी यूवेन्टुटे एट सेनक्टुटे, डी विटा एट मार्टे, तथा डी रेस्पिरेशनी के विषय क्रमश दीर्घ तथा अल्प जीवन, यौवन और जरा, जीवन और मृत्यु तथा श्वास-प्रक्रिया हैं। चौथे भाग मे संगृहीत हिस्टोरिया एनीमैलियम मे जन्तुओ के जीवन-वृत्तो अथवा इतिहासो का संकलन किया गया है। पॉचवे भाग मे सगृहीत डी पार्टिबस एनीमैलियम जन्तुओ के अगो पर, डी मोटू एनीमैलियम जन्तुओं के गमन पर, डी इन्केसू एनीमैलियम गमन-सम्बन्धी अगो पर तथा डी जेनरेशनी एनीमैलियम जन्तुओ की उत्पत्ति पर अरस्तू के अध्ययन प्रस्तुत करती है। उपर्युक्त नौ पुस्तके, जीव-विज्ञान से सम्बन्ध रखती है, पर इनमे से तीसरे भाग की अन्तिम पुस्तक, चौथे भाग मे सगृहीत जीवनेतिहास तथा पॉचवें भाग की चारो पुस्तके मुख्य है। इस प्रसग मे यह जान लेना चाहिए कि अरस्तू के जीव-विज्ञान में जन्तु-शास्त्र को ही स्थान मिला है। प्रसगवश कही-कही वनस्पतियो की भी बाते आ गयी

है। छठे भाग मे एक पुस्तक है जिसका नाम डी प्लान्टिस अथवा 'वनस्पतियो पर' है किन्तु उक्त भाग की पुस्तकों की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

रॉस के तीसरे भाग में संगृहीत डी एनिमा नाम की पुस्तक का विषय आत्मा-सम्बन्धी विवेचन है। पार्वा नेचुरेलिया के अन्तर्गत पाँच पुस्तकों, डी सेसू एट सेसिबिली, डी मेमोरिया एट रेमिनिसेशिया, डी साम्नो एट विजीलिया, डी साम्निस तथा डी डिविनेशनी पर साम्नम मे क्रमश: इन्द्रियो और इन्द्रिय सवेदन, स्मृति और संस्कार, (Reminiscence) सुषुप्ति और जाग्रति, स्वप्न तथा स्वप्न मे अलौकिक अनुभवो के समावेश पर विचार प्रकट किये गये है। अतएव ये ६ पुस्तकें मनोविज्ञान के अंतर्गत स्थान पाने के योग्य है।

प्राब्लेमेटा नामक सातवे भाग मे किसी नवीन विषय पर विचार नही किया गया है। इसमे केवल अन्य पुस्तकों मे आयी हुई समस्याओं का संकलन मात्र है।

आठवें भाग मे संगृहीत मेटाफिजिका दर्शन की पुस्तक है। अरस्तू ने भौतिक-शास्त्र और दर्शन दोनो को सैद्धान्तिक विज्ञान के वर्ग मे रखा था, किन्तु वह दोनो मे पूर्वापर सम्बन्ध मानता था। मेटाफिजिका नाम इसी सम्बन्ध का द्योतक है। 'मेटा' उपसर्ग, जो यूनानी 'मेता' का अंग्रेजी रूपान्तर है, 'पश्चात्' अर्थ का बोध कराता है। फिजिका के साथ जुड जाने से उक्त उपसर्ग भौतिक-शास्त्र की तुलना मे दर्शन की ज्ञान-सम्बन्धी परता (Posteriority) का भाव व्यक्त कर देता है। शब्द रचना के अनुसार यदि हम फ़िजिका को भौतिकी कहते है तो मेटाफिजिका को पार भौतिकी कहना उपयुक्त है, किन्तु अरस्तू को फिजिका में गतिमान वस्तुओं की और मेटाफिजिका में अचल तथा नित्य वस्तुओं की प्रकृति पर विचार करना अभीष्ट था। इन दूसरे प्रकार की वस्तुओ को हम संसार का सार अथवा सत्य अर्थ में तत्त्व समझते है। अतएव मेटाफिजिका को अरस्तू की तत्त्वविद्या समझना चाहिए।

रॉस के नवे भाग मे अरस्तू की नीतिशास्त्र-सम्बन्धी तीन पुस्तकें है। इनके नाम एथिका निकोमैकिया- एथिका यूडीमिया और मैग्ना मोरेलिया है।

इन पुस्तकों में से पहली तथा दूसरी पुस्तकों को एक ही पुस्तक के दो भिन्न संस्करणों के रूप में देखा जाता है। अनुमान किया जाता है कि अरस्तू के पुत्र निकोमैकस द्वारा संपादित पुस्तक एथिका निकोमैकिया तथा अरस्तू के शिष्य यूडिमस द्वारा संपादित एथिका यूडीमिया कहलायी। परंपरा ने पहली पुस्तक को अधिक मान्यता दी है। मैग्ना मोरेलिया अथवा बृहन्नीति में अरस्तू के किसी शिष्य ने गुरुमत का संक्षिप्त रूप में संकलन कर दिया है।

दसवें भाग में संगृहीत पॉलिटिका राजनीतिशास्त्र की पुस्तक है। अरस्तू के चिंतन में नीति और राजनीति की समस्याएँ परस्पर सम्बद्ध थी। इसलिए अरस्तू के विद्यार्थी के लिए उक्त विषयों में से प्रत्येक को समझने के लिए दोनों विषयों की पुस्तकों का एक साथ पढ़ना आवश्यक हो जाता है।

उक्त संकलन के ११वें भाग में रेटारिका और प्वेटिका नामों की दो पुस्तकें हैं जो क्रमशः सम्भाषण-कला और साहित्य-समीक्षा पर अरस्तू के विचार प्रस्तुत करती हैं। अरस्तू ने अपनी ज्ञान-मीमांसा में कलाओं को उत्पादन-सम्बन्धी विज्ञान में स्थान दिया था, किन्तु उसके साहित्य में इस विभाग से सम्बन्ध रखनेवाली ये ही दो पुस्तकें मिलती हैं। इनमें से भी प्वेटिका अधूरी-सी लगती है। हो सकता है, अरस्तू ने अन्य पुस्तकें भी लिखी हों, किन्तु वे काल के गर्त में समा जाने के कारण हम तक न पहुँची हों।

अरस्तू के साहित्य में अविकसित विषय

गणित

अरस्तू के साहित्य में कुछ विषयों के संकेत मिलते हैं, पर उन पर कोई व्यवस्थित अध्ययन नहीं प्राप्त होता। सैद्धान्तिक विज्ञानों की चर्चा करते समय उसने गणित का बार-बार नाम लिया था, किन्तु उसकी प्रामाणिक पुस्तकों में से एक भी गणित पर नहीं है। रॉस के संकलन के ११वें भाग में मिकेनिका और डी लिनियस नामों की दो पुस्तकें हैं। इनमें से पहली लीवर, घिर्री आदि भौतिक यंत्रों पर है और दूसरी रेखाओं, नलों और पिंडों की आकृति आदि पर। किन्तु विद्वानों ने इन्हें अरस्तू की शिष्य-परंपरा से प्राप्त माना है।

ज्योतिष

अरस्तू के ग्रथो मे ज्योतिप की वही दशा है जो गणित की। गति-विज्ञान की पहली तथा दूसरी पुस्तक मे आकाश-पिडो के स्वभाव आदि पर कुछ बाते प्रसगत कही गयी है। अन्तरिक्ष-विज्ञान की पुस्तक मे भी कुछ बाते है। पर स्वतत्र रूप से ज्योतिप विषय पर अरस्तू के साहित्य में कोई पुस्तक नही मिलती।

भू-विज्ञान

अन्तरिक्ष-विज्ञान की पहली पुस्तक के तीन अध्यायो मे, दूसरी पुस्तक मे और तीसरी पुस्तक के पहले अध्याय मे वर्षा के कारणो पर, समुद्र और भूकम्प के पारस्परिक सम्बन्धो पर, हवाओ की दिशाओ आदि के सम्बन्ध मे विचार मिलते है। रॉस के मंकलन के ६वे भाग में एक पुस्तक केवल चार पृष्ठो की है जिसमे लिखा है कि 'मैने पृथ्वी का गोला खीचकर, हवाओं के क्षेत्र दिखा दिये है और उनके बहने की दिशाओ के निशान लगा दिये है, जिससे तुम भली-भाँति समझ सको।"[१] वाक्य पढकर ऐसा लगता है कि अरस्तू अपने 'लीकियम' मे खड़ा हुआ प्राकृतिक भूगोल पढ़ा रहा हो। पर अरस्तू की पुस्तकों में अन्य विपयो के विस्तृत विवेचन पढकर यह विश्वास नही होता है कि वह इस विपय पर चार पृष्ठ लिखकर ही सतोप कर लेता। निश्चय ही उसके साहित्य का बहुत बडा भाग लुप्त हो गया है, पर जो उपलब्ध है वह भी अध्ययन के लिए पर्याप्त है। अगले पृष्ठो में, अरस्तू के साहित्य के आधार पर, ऊपर गिनाये हुए विषयो पर सक्षिप्त अध्ययन मिलेंगे।

१. वेन्टोरम साइटस एट काग्नोमिना, ९७३-बी, २४। अरस्तू के संपूर्ण ग्रंथ, भाग ६ में

अध्याय ३

ज्ञान-मीमांसा (Theory of Knowledge)

अरस्तू पहला यूनानी दार्शनिक था, जिसने दर्शन, विज्ञान, कला आदि ज्ञान के विभिन्न क्षत्रों की सीमाएँ निश्चित करने के प्रयत्न किये थे। उससे पहले के दार्शनिकों ने विश्व की समस्याओं पर विचार किये थे, किन्तु उन्होंने विचार की परिधि निश्चित करने का प्रयत्न बिलकुल नहीं किया था। भौतिक विचारकों ने समझा कि प्रकृति में सम्मिलित तत्त्वों का विश्लेपण कर लेने पर विश्व का ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। अरस्तू ने मेटाफिजिका में कहा कि "प्रकृति सत्ता का केवल एक सीमित अंश है।"[1] उसने यह भी कहा कि "जो लोग केवल भौतिक पदार्थों को ही तत्त्व मान लेते हैं, वे कई प्रकार से भूल करते हैं। सबसे बडी भूल तो यह करते हैं कि वे सूक्ष्म वस्तुओं के अस्तित्व का ही निराकरण कर देते हैं।"[2] इसी प्रसग मे उसने यह भी कहा कि "उत्पत्ति और विनाश के कारण भी, वे नहीं बता पाते है, क्योंकि भौतिक पदार्थों को गति का स्रोत मान लेने पर वास्तविक स्रोत का पता नहीं चलता। द्रव्य को वे कारणों मे उचित स्थान नही दे पाते है और न यह बता पाते हैं कि अग्नि आदि तत्त्व किस प्रकार एक दूसरे से उत्पन्न होते है।"[3]

ज्ञेय की प्राथमिकता

इस प्रकार, अरस्तू ने ज्ञान की सबसे पहली समस्या यह बतलायी कि आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य न समझ बैठा जाये। इस भूल से बचने का उसने

१. मेटाफ़िज़िका, भाग 'गामा', अध्याय ३
२. मेटाफिजिका, भाग 'ए', अध्याय ८
३. मेटाफ़िज़िका, भाग 'ए', पृ० ९८८ बी, पंक्तियाँ २६-३२

यह उपाय बतलाया कि ज्ञान को वस्तुओं का पूर्ववर्त्ती (Antecedent) न माना जाये। उसने कहा कि यूनानी दार्शनिक यदि विश्व के विस्तार पर विचार कर ज्ञेय वस्तुओं के पूरे क्षेत्र को अपने चिंतन का विषय बना सके होते, तो वे जितना अनुसंधान कर सके थे उसी को विश्व-दर्शन न समझते। इस प्रकार के भ्रम का निवारण करने के लिए अरस्तू ने कैटेगोरी (पदार्थ-निर्णय) नामक पुस्तक में ज्ञान को वस्तु-सापेक्ष (Object dependent) सिद्ध करने का प्रयत्न किया। अरस्तू का कथन है कि ज्ञान किसी न किसी वस्तु का होता है। जिस वस्तु का ज्ञान होता है वह ज्ञान होने से पहले रहती है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जो वस्तु होती है, उसका ज्ञान अवश्य-भावी होता है। बिना ज्ञान हुए भी वस्तु रह सकती है। वह अपनी स्थिति के लिए ज्ञान पर निर्भर नहीं रहती। ज्ञान, इसके विपरीत, वस्तु पर निर्भर रहता है। ज्ञेय वस्तु का नाश हो जाने पर ज्ञान की संभावना नहीं रह जाती है।[१] इस प्रकार अरस्तू ज्ञान-मीमांसा के निमित्त तत्त्व-मीमांसा (Ontology) की अनिवार्यता सिद्ध कर देता है।

ज्ञान के विभाग

अब वह ज्ञेय वस्तुओं का विश्लेषण करता है। उसके विचार से वस्तुएँ तीन प्रकार की होती हैं—(१) सदैव गतिमान रहनेवाली वस्तुएँ, (२) अचल वस्तुएँ, जो चल वस्तुओं को गतिमान करती हैं, और (३) वे अचल वस्तुएँ, जो गतिमान वस्तुओं से अलग नहीं की जा सकती। इन्हीं तीन प्रकार की वस्तुओं को उसने तीन शास्त्रों, अथवा विज्ञानों के अध्ययन का विषय माना। भौतिक-शास्त्र अथवा 'फिजिका'[२] का विषय गतिमान वस्तुओं का अध्ययन है। ये वस्तुएँ पदार्थ से भिन्न नहीं होती। परिवर्तन, उत्पत्ति और विनाश का क्रम इन्हीं वस्तुओं में पाया जाता है। इन्हीं से मिलती-जुलती

१. कैटेगोरी, अ० ७, पृ० ६ बी, ५; ७ बी, २५, ३०; ८ ए, ३

२. फ़िजिका, २५९ 'ए' १५-२०; मेटाफिजिका, १०२६ ए; जेनेरेशनी एट करप्शनी, भाग १, अ० ३, ३१८ ए

वे वस्तुएँ हैं, जो अचल होते हुए भी गतिमान वस्तुओं में निहित रहती हैं, जैसे रेखाएँ और वृत्त। इन वस्तुओं का अध्ययन करनेवाला शास्त्र गणित कहलाता है। गति के अचल स्रोत का अध्ययन 'प्रथम विज्ञान' (First science) का विषय है। अरस्तू दर्शन को कभी 'प्रथम विज्ञान', कभी 'दार्शनिक का विज्ञान' (Science of the philosopher) और कभी 'ईश्वर-विषयक शास्त्र' (Theology) कहता है। उसके ग्रंथों में 'दर्शन' और 'विज्ञान' शब्दों का प्रयोग लगभग पर्यायवाची शब्दों की भाँति हुआ है।

उपर्युक्त तीनों अध्ययनों को उसने ज्ञान के एक ही विभाग में रखा था, जिसे वह सैद्धान्तिक ज्ञान कहता था। उसके विचार से ज्ञान के पूर्ण विस्तार को तीन विभागों में बाँटा जा सकता है, जिन्हें वह सैद्धान्तिक, व्यावहारिक तथा उत्पादन-सम्बन्धी ज्ञान कहता था। उसने इन तीनों के अलग-अलग उद्देश्य भी बताये हैं। सैद्धान्तिक ज्ञान सत्य की खोज में प्रवृत्त होता है, व्यावहारिक कर्म का विवेचन करता है और उत्पादन-सम्बन्धी विज्ञान उत्पादन के नियम बताने का प्रयत्न करता है।[1] अरस्तू स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए, अध्ययन के विभिन्न क्षेत्रों की सीमाएँ स्पष्ट कर लेना बहुत ही आवश्यक समझता था। साथ ही, वह इनके पारस्परिक सम्बन्धों पर निगाह रखना भी आवश्यक मानता था।

सैद्धान्तिक विज्ञान

अरस्तू ने भौतिक विज्ञान, गणित और दर्शन को सैद्धान्तिक विज्ञान के अंतर्गत रखा था। उसके विवेचन से पता चलता है कि वह दर्शन को सैद्धान्तिक अध्ययन का उच्चतम विकास मानता था। उसके अनुसार, दृष्ट जगत् के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कारण का ज्ञान ही 'दर्शन' है, किन्तु यह ज्ञान एकाएक प्राप्त होनेवाला नहीं है। "मेटाफ़िजिका" के प्रारंभ में उसने कहा है कि मानव-स्वभाव के कई प्रकार से बंधनों में होने के कारण, जिस ज्ञान की हम खोज में हैं, वह मानव-शक्ति से परे समझा जा सकता है।[2] इस प्रकार

१. मेटाफ़िजिका, ९९३ बी, २०; १०२५ बी, २१

२. मेटाफिजिका. ९८२ बी. २८-३०

के ज्ञान का, शनै-शनै: विकास किया जा सकता है। अरस्तू ने इस विचार को कई प्रसगों मे व्यक्त किया है। 'मेटाफिजिका' में ही उसने बतलाया है कि अविशिष्ट ज्ञान की आकाक्षा करनेवाले को, पहले उन वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, जो सरलता से जानी जा सकती हों और फिर, धीरे-धीरे, उच्चतम ज्ञान की ओर बढना चाहिए।[1] अपने इसी विचार के कारण, वह दर्शन के जिज्ञासु को भौतिक विज्ञान के अध्ययन से प्रारंभ कर, धीरे-धीरे दर्शन के क्षेत्र मे प्रवेश करने की सम्मति देने के अभिप्राय से, सैद्धान्तिक विज्ञान के विभाजन में, भौतिक विज्ञान को सबसे नीचे, गणित को मध्य मे और दर्शन को सबसे ऊपर रखता है।

गणित की उपेक्षा

कहा जाता है कि अरस्तू ने, जहाँ भौतिक विज्ञान, दर्शन और अन्य मानवीय अध्ययनों पर इतना प्रचुर साहित्य उत्पन्न किया, वही गणित की पूर्ण उपेक्षा की, किन्तु सैद्धान्तिक विज्ञानो में उसने गणित को जो स्थान दिया है, उससे उसकी उपेक्षा-दृष्टि का पता नही चलता। गणित को उसने भौतिक-शास्त्र से ऊँचा स्थान दिया था। उसके मत से भौतिक शास्त्र चल वस्तुओं का अध्ययन करता है, किन्तु गणित चल वस्तुओं मे व्याप्त अचल अंश का। गणित की प्रशंसा मे उसने कहा है कि गणित सौन्दर्य के मुख्य रूपों का, जो व्यवस्था, सुगढता (Symmetry) और सीमाबद्धता है, विशेष रूप से ज्ञान कराता है। उसके समय में गणित की इतनी मान्यता बढ़ गयी थी कि दार्शनिक लोग गणित को दर्शन का स्थानापन्न समझने लगे थे।[2] गणित को वह इतना महत्त्व नही देना चाहता था। इसीलिए उसने कहा था कि गणित का-सा सूक्ष्म औचित्य प्रत्येक विषय के अध्ययन के लिए अपेक्षित नहीं है। किन्तु अपदार्थों के अध्ययन के लिए वह गणित की सूक्ष्मता (Accuracy) का समर्थन भी करता है।[3] उसके इन विचारो से तो इस विचार का समर्थन नही होता

१. मेटाफ़िज़िका, 'ज़ेड'–३, १०२९ बी, १०
२. मेटाफ़िज़िका, भाग 'ए', अ० ९, ९९२ ए, ३२
३ मेटाफ़िज़िका ९९४ बी २९

कि वह गणित के प्रति उदासीन था। हो सकता है कि गणित के द्वारा ज्ञेय वस्तुओं को, भौतिक वस्तुओ और दर्शन की वस्तुओं के बीच की कड़ी मानते हुए भी, वह उनका ज्ञान प्राप्त करना, अपने गतव्य तक पहुँचने के लिए, आवश्यक न समझता रहा हो, क्योकि उसका ध्येय चल वस्तुओ के ज्ञान मे अचल वस्तुओ के ज्ञान पर पहुँचना था। उसका अभीष्ट चल वस्तुओ से भिन्न 'अचल' वस्तुओ का ज्ञान था, जब कि वह गणित के द्वारा केवल चल वस्तुओ मे व्याप्त 'अचल' तत्त्व का ज्ञान सभव मानता था। अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए, अपने संपूर्ण साहित्य में, उत्पादन-सम्बन्धी विज्ञानो और व्यावहारिक विज्ञानो से भौतिक विज्ञान और दर्शन के अतरो को स्पष्ट करने का उसने प्रयत्न किया है।

उत्पादन-सम्बन्धी विज्ञान

उत्पादन-सम्बन्धी विज्ञान से अरस्तू का तात्पर्य कलाओ के ज्ञान से था। वह भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति का रहस्य समझने के लिए उत्पादन की प्रकृति पर विचार करना आवश्यक समझता था। उसे मालूम था कि हेरा-क्लाइटस, अग्नि से वस्तुओ की उत्पत्ति और अग्नि मे ही उनका लय मानते हुए भी, परिवर्तन को वस्तुओ का अतिम सत्य कह गया था। अरस्तू ऐसी भूल नही करना चाहता था, इसलिए उसने उत्पादन की गति-विधि पर विचार किया। ऐसा करने पर, उसे तीन प्रकार के उत्पादनो का पता चला—(१) प्राकृतिक उत्पादन (Natural production) (२) कलात्मक उत्पादन (Artistic production) और (३) आकस्मिक उत्पादन (Accidental production)[1]। इन तीनो में उसे कुछ समानताएँ दिखाई दी। किसी भौतिक वस्तु मे परिवर्तन होने पर ही कोई दूसरी भौतिक वस्तु उत्पन्न होती है, चाहे इस परिवर्तन का कारण प्रकृति हो, चाहे कला हो, चाहे भाग्य हो। इस प्रकार, उसने यह नतीजा निकाला कि पदार्थ के बिना किसी प्रकार का उत्पादन सभव नही।[2] दूसरी समानता उसे ज्ञान की दृष्टि से मिली। उसने

१. मेटाफिजिका, भाग 'जेड', अ० ७
२. मेटाफ़िज़िका, भाग 'ज़ेड' अ० ७, १०३२ ए

देखा कि सभी प्रकार के उत्पादनो का ज्ञान संभाव्यताओं का ज्ञान है।[1] उसके विचार से प्रकृति भी एक प्रकार की सभाव्यता या 'पोटेमी' है।[2]

प्राकृतिक और कलात्मक उत्पादनो मे अंतर

पदार्थ (Objective Matter) और सभाव्यता (Potency in the sense of probability) में समानताएँ होने पर भी, अरस्तू के अनुसार, प्राकृतिक और कलात्मक उत्पादनो मे अतर है। प्रकृति के द्वारा उत्पन्न की जानेवाली वस्तुओ के निमित्त वस्तुओ मे बाह्य नही होते। वृक्ष से वृक्ष और मनुष्य मे मनुष्य उत्पन्न होता है। कलात्मक उत्पादन मे, परिवर्तन का स्रोत वस्तुओं मे न होकर कलाकार में होता है। इससे भी बढकर, प्रकृति मे होनेवाले परिवर्तन बँधे हुए नियमो के अनुसार होते है, किन्तु कला-सम्बन्धी परिवर्तन कलाकार के सकल्पो पर निर्भर रहते है। कलात्मक परिवर्तनो मे प्राकृतिक नियमो की अनिवार्यता नही रहती।

इस विचार से, अरस्तू इस नतीजे पर पहुँचता है कि कलाओं को सैद्धान्तिक विज्ञान का विषय नही बनाया जा सकता।

आकस्मिक उत्पादनों की प्रकृति

अब अरस्तू आकस्मिक अथवा भाग्य के अधीन समझी जानेवाली घटनाओ की प्रकृति पर विचार करता है। उसने 'मेटाफिजिका' मे कहा कि भाग्य[3] उन घटनाओ का आकस्मिक कारण बन जाता है, जिन्हे साधारण रूप मे, किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए, घटित कराने का प्रयत्न किया जाता है और भाग्य विचार के उद्देश्य को पूरा कर देता है। किन्तु भाग्य-सूचक फलो की प्राप्ति करानेवाले कारणो का पहले से कुछ भी अनुमान नही किया जा सकता, क्योंकि वे अनिश्चित होते है। आकस्मिक होने के नाते, ये अविशेष अर्थ में

१. मेटाफिजिका, भाग 'थीटा', अध्याय २
२. मेटाफ़िज़िका, भाग 'थीटा', अध्याय ८
३ मेटाफिजिका १०६५ ए, ३० ३५

किसी वस्तु के कारण भी नही होते। इस विचार से, अरस्तू इस नतीजे पर पहुँचता है कि आकस्मिक घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन सभव नही, क्योंकि वैज्ञानिक अध्ययन निश्चित कारणों की खोज करता है।[1]

इस प्रकार, कलाओं के अध्ययन की भाँति, अरस्तू आकस्मिक घटनाओं को भी सैद्धान्तिक अध्ययन के लिए अनुपयुक्त पाता है।

व्यावहारिक विज्ञान का स्वभाव

कलाओं के स्वभाव पर विचार कर लेने पर, विज्ञान और दर्शन का एक ही प्रतिस्पर्धी रह गया था। वह व्यावहारिक विज्ञान था। अरस्तू ने एथिका निकोमैकिया (निकोमैकीय नीति) में इसके स्वभाव पर विचार किया। उसने देखा कि कलाओं का सम्बन्ध मानवीय निर्माण से है, व्यावहारिक विज्ञान का सम्बन्ध मानवीय कर्मो से है। दोनों के विषय अनिश्चित है। कलाकार उन वस्तुओं को नही बनाता, जो निश्चित रूपसे उत्पन्न होती है। वह पत्थर नही, पत्थर की मूर्त्ति बनाता है। इसी प्रकार व्यावहारिक बुद्धिवाला मनुष्य अनिवार्य रूप से किये जानेवाले कर्मो पर विचार नही करता। उसके विचार के विषय वे ही कर्म है, जो भले अथवा बुरे माने जा सकते है। अरस्तू ने, इस प्रकार, यह निर्णय किया कि कला-सम्बन्धी ज्ञान से व्यावहारिक ज्ञान यद्यपि भिन्न है, दोनों में अनिश्चित विषयों की समानता है और व्यावहारिक ज्ञान भी, कला-सम्बन्धी ज्ञान की ही भाँति, सैद्धान्तिक अध्ययन का विषय नही बनाया जा सकता।[2]

विज्ञान और दर्शन

उपर्युक्त विवेचन से, अरस्तू को, सच्चे अर्थ मे, ज्ञान के दो ही क्षेत्र मिले —(१) भौतिक जगत् का वह भाग, जिसमे नियमित रूप से परिवर्तन होते है, और (२) प्रकृति को उद्वेलित करनेवाला, गति का अचल केन्द्र, जिसकी न कभी उत्पत्ति हुई थी और न जिसका कभी विनाश ही होगा। इन्हीं दोनो का वह

१. मेटाफ़िज़िका, १०६४ बी, ३०
२. एथिका निकोमैकिया, भाग ६, अध्याय ४-८

सैद्धान्तिक अध्ययन सभव मानता था और इसी अध्ययन से प्राप्त ज्ञान को, क्रमश:, विज्ञान और दर्शन मानता था, किन्तु यह विज्ञान और दर्शन का भेद आधुनिक है। अरस्तू इन दोनो अध्ययनो को एक ही ज्ञान-सम्बन्धी विकास के दो स्तर समझता था। इसीलिए तो, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वह कभी दोनों अध्ययनो को दर्शन कहकर और कभी दोनो को विज्ञान कहकर, दूसरे अध्ययन को 'प्रथम' बतलाता था।

दर्शन को 'प्रथम दर्शन' अथवा 'प्रथम विज्ञान' कहने मे अरस्तू का उद्देश्य यह सूचित करने का था कि वह प्रथम अस्तित्व (Existence) का ज्ञान है। अरस्तू के अनुसार, प्रथम अस्तित्व, जिसका ज्ञान प्राप्त करना, मनुष्य के सपूर्ण ज्ञानात्मक प्रयत्न का फल है, ससार का आदि (Fundamental) कारण है। वह अचल रहकर ससार को गति देता है। उसी गति से प्रकृति मे परिवर्तनो का क्रम चलता है। उसी से उद्‌भूत होनेवाली कारण-कार्य शृखला से भौतिक जगत् का विस्तार हुआ है। वही वस्तुओ के विनाश का भी कारण है। किन्तु आदि कारण का ज्ञान इतना प्राथमिक (Primary) होगा कि उसे किसी प्रमाण-पद्धति से प्राप्त नही किया जा सकेगा। इसी ज्ञान के लिए अरस्तू ने वैज्ञानिक पद्धति का विकास किया था। उसका यह विचार था कि वैज्ञानिक अनुसधान मे कार्य से कारण का पता लगाते-लगाते जब हम ऐसे कारण को खोज निकालेगे, जिसके आगे किसी कारण का खोज पाना कठिन हो जायेगा, तभी हमे दर्शन के जिज्ञास्य तत्त्व की उपलब्धि हो जायेगी। इसी विचार के अनुरूप, उसने कहा था कि जो अस्तित्व की दृष्टि से प्रथम है, उसकी ज्ञान मे अतिम उपलब्धि होगी। इस प्रकार, अरस्तू का दर्शन-सम्बन्धी विचार समझने के लिए वैज्ञानिक विकास की प्रक्रिया को समझना आवश्यक है।

विज्ञान का विकास

अरस्तू के अनुसार, साधारण ज्ञान से विज्ञान का विकास होता है। अलग-अलग घटनाओ का ज्ञान सबसे नीचे दर्जे का ज्ञान है। यह ज्ञान पशुओ को भी होता है, क्योकि उनमें सवेदन-शक्ति रहती है। किन्तु पशुओं को अनुभव नही होता। अनुभव के लिए स्मरण-शक्ति अपेक्षित है। अरस्तू ने अनुभव की

प्रकृति को बहुत अच्छी तरह समझा था। एक ही प्रकार की घटनाओ की अनेक स्मृतियों का धारण होना ही अनुभव है।[1] जन्तुओ के विकास-क्रम मे, मनुष्य के स्तर पर ही स्मरणशक्ति उत्पन्न होती है।

अनुभव के बाद विज्ञान की बारी आती है। विज्ञान ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष नही है। वह ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष से ऊँचे स्तर का ज्ञान है, किन्तु बिना ऐन्द्रिक प्रत्यक्षो के अनुभव मे गुँथे हुए विज्ञान सभव नही। उत्तर विश्लेषण 'अनालिटिका पोस्टीरिओरा' में अरस्तू ने कहा है कि प्रत्यक्ष विशिष्ट वस्तुओं (Particular objects) का ज्ञान है; विज्ञान विशिष्ट वस्तुओ मे छिपे हुए सामान्यो (Universals) का ज्ञान है।[2] इसी ज्ञान से वस्तुओ के कारण स्पष्ट होते है। अरस्तू के इन विचारो से, ज्ञानात्मक प्रक्रिया में विज्ञान का स्थान मालूम होने के साथ-साथ, उसके सामान्य स्वरूप का भी पता चल जाता है। विशिष्ट स्वभाव को समझने के लिए अरस्तू ने भौतिक वस्तुओ के स्वभाव को टटोला था।

विज्ञान का स्वभाव

परिवर्त्तनशील वस्तुओ तथा घटनाओ मे, अरस्तू को, कुछ शाश्वत सत्य दिखाई दिया। उसने यह पाया कि वस्तुओ मे अन्तर्हित कारण-कार्य सम्बन्ध नियमित है। एक ही प्रकार की परिस्थितियो मे, दी हुई वस्तुओ के व्यापार एक-से होते है। इस निरीक्षण से उसने वस्तुओ के निश्चित स्वभावो की कल्पना की और जब उसने यह जिज्ञासा की कि प्रत्येक वस्तु का स्वभाव निश्चित क्यो है, तो उसे उत्तर मिला कि प्रत्येक वस्तु में अपरिवर्त्तनीय 'सार' (Essence) होता है, जिसके कारण उसका स्वभाव बदलता नहीं। विज्ञान का पहला काम उसने वस्तुओ के 'सार' का अनुसंधान करना निश्चित किया।

अब, अरस्तू ने फिर विचार किया कि वस्तुओ का स्वभाव न बदलने का क्या कारण है? और उत्तर मे उसने यह पाया कि वस्तुओ मे कुछ अपरिवर्त्तनीय गुण होते है। किन्तु ऐसे गुणो को टिकने के लिए आधार भी तो चाहिए?

१. मेटाफिजिका, भाग 'ए', ९८० ए तथा बी
२. अनालिटिका पोस्टीरिओरा, ८७ बी, ३७

इस विचार से अरस्तू इस नतीजे पर पहुँचा कि प्रत्येक वस्तु के 'सारभूत गुण' (Essential qualities) के आधार के रूप में 'द्रव्य' (Substance) होता है। इसका पता लगाने का काम भी उसने विज्ञान को सौंपा। इस प्रकार, विज्ञान के दो काम निश्चित हो गये।

विज्ञान का तीसरा काम 'गति के स्रोत' (Source of Movement) को खोजना है। अरस्तू के विचार से, परिवर्त्तन के स्वभाव को बिना समझे हुए वस्तु का स्वभाव नहीं समझा जा सकता और परिवर्त्तन का स्वभाव तभी समझा जा सकता है, जब गति का कारण समझ लिया जाये। उसका कहना था कि उसके पहले के विचारकों की यही सबसे बड़ी कमी थी कि वे गति के स्रोतों का पता न लगा सके थे।

विज्ञान का चौथा काम उसने वस्तुओं में होनेवाले परिवर्त्तनों के 'उद्देश्यों' (Ends) का पता लगाना बतलाया। वह समझता था कि बिना उद्देश्यों को जाने हुए परिवर्त्तनों की व्याख्या पूर्ण न होगी। अरस्तू पहला दार्शनिक था, जिसने प्रकृति के परिवर्त्तनों को सोद्देश्य समझा और विज्ञान के लिए उद्देश्यों का अनुसंधान करना आवश्यक बतलाया।

विज्ञान के विभाग

यह निश्चित कर चुकने पर कि विज्ञान के द्वारा संपूर्ण जगत् की वस्तुओं के चार कारणों को बताकर उनकी व्याख्या की जायेगी, अरस्तू के सामने यह प्रश्न आया कि इस प्रकार के अध्ययन के लिए एक विज्ञान की आवश्यकता है अथवा अनेक विज्ञानों की। स्पष्ट ही है कि एक विज्ञान पूरे जगत् का अध्ययन करने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता। इसलिए विज्ञानों के विभाजन की समस्या उठी। उसने देखा कि संसार के तमाम अस्तित्त्वों को विभिन्न जातियों तथा उपजातियों में बाँटा जा सकता है। इसलिए उसने एक वर्ग की वस्तुओं के अध्ययन के लिए एक विज्ञान की आवश्यकता का समर्थन किया।[2] उसके समय तक भौतिक जगत् का इतना विश्लेषण नहीं हो पाया था कि वह विभिन्न विज्ञानों के उचित स्वरूप प्रस्तुत कर पाता, किन्तु अपने निरीक्षण के अनुपात में उसने

१ मेटाफ़िज़िका भाग 'गामा'   २ १००४ ए, ५

विभिन्न विज्ञानों के स्वरूप निश्चित करने का प्रयत्न किया। उसके प्रयत्न में भावी अध्ययनों के निमित्त विभिन्न विज्ञानो की नीवें तो पड ही गयीं।

विज्ञानों की सीमाएँ

अरस्तू ने अपने विवेचन में यह स्पष्ट किया कि विभागीय विज्ञानो के क्षेत्र सीमित होने के कारण उनके द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान भी सीमित स्वभाव का होगा। इस बात को समझाने के लिए उसने पर्याप्त तर्क दिये। प्रत्येक विज्ञान की वस्तुएँ विशिष्ट होने से उसे कुछ विशिष्ट नियमों की आवश्यकता होगी। किन्तु प्रत्येक विज्ञान की वस्तुएँ, पूरे अस्तित्व की शाखा होने से, दूसरे विज्ञानो की वस्तुओ से सम्बद्ध होगी और उन्हें विशिष्ट नियमो की सहायता से समझने का प्रयत्न करने पर कुछ अधिक व्यापक नियमो की आवश्यकता जान पडेगी। इन व्यापक नियमो को विज्ञान की कोई भी विशिष्ट शाखा प्राप्त न कर सकेगी। इसलिए विज्ञान के प्रत्येक विभाग को कुछ व्यापक (Comprehensive) नियमो की कल्पना करनी होगी। इतना ही नही, मौलिक अस्तित्व के सम्बन्ध में भी कुछ सत्य स्वीकार करने पड़ेंगे। बिना इनके किसी एक विभाग की वस्तुओं की व्याख्या सभव नही होगी। ये सत्य विज्ञान के लिए इतने प्राथमिक होंगे कि उन्हें, सिद्ध कर पाने की संभावना न होने से, स्वयसिद्ध (Self evident) मानना पड़ेगा। इस प्रकार, अरस्तू ने यह दिखलाया कि वैज्ञानिक व्याख्याएँ बहुत ही अधूरी होगी। वे तीन प्रकार के सत्यों पर आधारित होगी—(१) वास्तविक निरीक्षण से प्राप्त सत्य, (२) कल्पित सत्य और (३) स्वयसिद्ध सत्य (Axioms)।

फिर भी, अरस्तू ने यह कल्पना की कि वैज्ञानिक अध्ययनो से अनुभव में इतनी वृद्धि हो जायेगी कि दर्शन के अप्रतिपाद्य विषय का भान हो सकेगा। अरस्तू के इस विचार को समझने के लिए, उसके वैज्ञानिक विधियो के विवेचन को समझना आवश्यक है।

वैज्ञानिक अध्ययन की विधियाँ

अरस्तू ने वस्तुओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए तर्कशास्त्र का विकास किया। उसने तर्क को स्वतन्त्र विपय न मानकर अध्ययन की विधि कहा था।

अरस्तू के इसी विचार के अनुरूप, मध्यकाल के लेखकों ने तर्क को 'आर्गेनन' (Organon) नाम दिया था। उसके तर्क-सम्बन्धी साहित्य मे, निगमन-शास्त्र का पूरा विकास प्राप्त होता है। 'कैटेगोरी' नामक पुस्तक में 'पदो' (Terms) की प्रकृति पर, 'डी इन्टरप्रेटेशनी' मे 'तर्क-वाक्यों' (Logical Propositions) की प्रकृति पर, 'अनालिटिका प्रायोरा' मे 'न्याय' (Syllogism) के तीन आकारो पर और 'सोफिस्टिस एलेंकिस' मे 'तर्काभासों' की प्रकृति पर विचार किया गया है। इन्ही विवेचनो के प्रसग मे, अरस्तू का प्रसिद्ध दस तार्किक 'वर्गो' (Categories) का सिद्धान्त[1] तथा पाँच 'विधेय-धर्मी' (Predicable) पदो का सिद्धान्त[2] भी मिल जाता है। किन्तु ज्ञान-मीमासा के प्रसग मे, इन सब पर विचार न करके, उसके तर्कशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य मे पाये जानेवाले चिंतन की वैज्ञानिक पद्धतियो के विवेचन पर ही दृष्टि डालना है।

द्वन्द्वात्मक पद्धति

अरस्तू के समय मे द्वन्द्वात्मक (Dialectical) पद्धति का प्रचलन था। सोफ़िस्टो ने इसी पद्धति से काम लिया था। प्लेटो ने अपने समस्त सवादो मे इसी शैली से काम लिया था। अरस्तू ने इसे विवाद के लिए उपयुक्त तथा तत्त्व-निरूपण के लिए अनुपयुक्त सिद्ध किया। इस पद्धति का टापिका मे विस्तृत विवेचन मिलता है। यहाँ पर, हम केवल उसके मुख्य विरोधो का उल्लेख कर देते है। उसका कहना है कि द्वन्द्वात्मक पद्धति का उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना नही, विपक्षी के मत का खंडन है, किन्तु केवल खंडन ही से ज्ञान का उद्देश्य पूरा नही होता।[3] फिर, वह कहता है कि विज्ञानों के विचार के निश्चित क्षेत्र होते है, किन्तु द्वन्द्वात्मक विचार का कोई भी निश्चित क्षेत्र नही है।[4] इस आलोचना का आधार, अरस्तू के समय मे प्रचलित, सोफिस्टों के विवाद है।

१. कैटेगोरी, अध्याय ४-५; टापिका, पुस्तक १, अ० ७, १०३ बी, २०
२. टापिका, अध्याय ८-९
३. मेटाफ़िज़िका, १,००४ बी १७
४. अनालिटिका पोस्टी०, ७७ ए, ३२-३५ तथा, टापिका, १०० ए, ३०

उनके विचार-विमर्श का कोई विशिष्ट क्षेत्र न था। अरस्तू की तीसरी आलोचना यह है कि द्वन्द्वात्मक चिंतन साधारण रूप से स्वीकृत सम्मतियों के आधार पर अग्रसर होता है और अन्तिम बात यह कहता है कि द्वन्द्वात्मक चिंतन मे सत्य वाक्यो की नही, केवल सभावित वाक्यो की आवश्यकता रहती है। इसे पुष्ट करने के लिए, अरस्तू ने बतलाया कि यदि वास्तविक मध्यपद के स्थान पर केवल मध्यपद प्रतीत होनेवाला पद रख दिया जाये तो भी द्वन्द्वात्मक न्याय बन जायेगा।[१] इस प्रकार, अरस्तू ने द्वन्द्वात्मक पद्धति की अवैज्ञानिकता का प्रदर्शन किया।

आगमन और निगमन

द्वन्द्वात्मक पद्धति का निरस्कार कर देने पर केवल दो विधियॉ बची—आगमन और निगमन। इनकी प्रकृति पर, अरस्तू ने 'अनालिटिका पोस्टीरिओरा' मे विचार किया है। उसे पढकर हम इस नतीजे पर पहुँचते है कि बहुत सीमित अर्थ मे केवल निगमन (Deduction) को ही वैज्ञानिक विधि माना जा सकता है। वह वैज्ञानिक ज्ञान का अर्थ 'निरूपण' (Demonstration) अथवा तार्किक प्रतिपादन समझता था। आगमन के बिना निगमन संभव नही है, पर आगमन के द्वारा प्राप्त किये हुए ज्ञान का निरूपण अथवा प्रतिपादन सभव नही। निरूपण के लिए प्राथमिक सत्यो की आवश्यकता होती है, जिन्हे निरूपण से प्राप्त नही किया जा सकता।[२] ये प्राथमिक सत्य आगमन से प्राप्त होते है। इस प्रकार, आगमन की विधि से प्राप्त किया हुआ ज्ञान वैज्ञानिक विधि से प्राप्त किये हुए ज्ञान से स्वतंत्र तथा ऊँचे स्तर का है। इसे सिद्ध करने के प्रयत्न मे वैज्ञानिक विधि को निराश होना पडता है। इस ज्ञान की सहज उपलब्धि होती है। यहॉ पर सहज उपलब्ध ज्ञान और वैज्ञानिक निरूपण के पारस्परिक सम्बन्धो की समस्या पर विचार कर लेना आवश्यक है।

अरस्तू के विचार से, प्रत्यक्ष ज्ञान की वृद्धि होने पर, वस्तुओ और गुणो के

१ अनालिटिका पोस्टी०, ७७ ए, ३२-३५ तथा, टापिका, १०० ए, ३०
२. मेटाफ़िज़िका, ९९५ बी, २३ तथा, अना० पोस्टी०, ८१ बी, २०-२२
३. अना० पोस्टी०, १०० बी

पारस्परिक सम्बन्धो का जो सहज ज्ञान होता है वह आगमनात्मक(Inductive) है—जैसे, 'सभी मनुष्य नश्वर हैं।' इसे अनेक दृष्टान्तो के आधार पर प्राप्त किया जाता है, पर इसे वैज्ञानिक निरूपण से सिद्ध नही किया जा सकता। वैज्ञानिक निरूपण मे इसका प्रयोग कर किसी विशिष्ट मनुष्य की नश्वरता सिद्ध की जा सकती है। अरस्तू इन दोनो विधियो के सतत प्रयोग से उच्चतम सामान्य की उपलब्धि सभव बताता है। उसका कथन है कि कुछ दृष्टान्तो के आधार पर हम एक सामान्य निष्कर्ष प्राप्त कर, उसका यदि वैज्ञानिक निरूपण में प्रयोग करते जायें, तो धीरे-धीरे दृष्टान्तों की सख्या बढती जायेगी और हमें अपने सहज उपलब्ध सामान्य की सत्यता पर अधिकाधिक विश्वास होता जायेगा। इसी अभ्यास मे, 'उत्तरोत्तर' उच्चतर स्तर के सामान्यों की उपलब्धि होगी। धीरे-धीरे, सामान्यो की परिधि मे विस्तार होते-होते, 'उच्चतम सामान्य' (Highest universal) की उपलब्धि हो जायेगी।

सक्षेप मे, अरस्तू इतना ही कहता है कि दर्शन के अप्रतिपाद्य[1] विषय का ज्ञान सहज (Intuitive) है। उसे किसी प्रमाण से प्राप्त नही किया जा सकता, किन्तु वैज्ञानिक निरूपण मे अधिक काल तक लगे रहकर, अनुभव में इतनी वृद्धि की जा सकती है कि उक्त उपलब्धि हो सके। प्रत्यक्ष में जिस ज्ञान-परपरा का सूत्रपात होता है, वही विकास करते-करते चरम उपलब्धियो तक पहुँच जाती है। अरस्तू ने उत्तरवर्त्ती ज्ञान को पूर्ववर्त्ती ज्ञान से विकसित होनेवाला माना था। इसीलिए, उसने निरूपण को साधारण ज्ञान और दर्शन के बीच रखकर वैज्ञानिक चितन के अभ्यास का साधन बतलाया था। उसके ज्ञान-सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह साधारण ज्ञान से दर्शन तक एक ही ज्ञानात्मक प्रक्रिया का विस्तार मानता था। भौतिक ज्ञान का निराकरण कर पारभौतिक की स्थापना वह नही करता था। उसके विचार से ससार का ज्ञान पूर्ण होने पर ही ईश्वर की सहज उपलब्धि सभव है।

१. **अरस्तू के विचार से दर्शन के जिज्ञास्य सत्य का ज्ञान किसी प्रमाण-प्रमेय की पद्धति से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसी लिए वह उसे अप्रतिपाद्य (Indemonstrable) कहता है**

अध्याय ४

भौतिक विज्ञान

अरस्तू ने अपनी ज्ञान-मीमासा के अनुरूप, दर्शन के विषय को समझने के लिए भौतिक जगत् का अध्ययन किया। उसने कहा था कि वैज्ञानिक अध्ययन के अनुभव से दर्शन के ज्ञेय तत्त्व की सहज उपलब्धि सभव है। इसी विचार को उसने अपने भौतिक अध्ययन के द्वारा भी कार्यान्वित किया।

प्रकृति मे आकस्मिकता

अरस्तू ने वस्तुओं के कार्य-कारण सम्बन्ध पर विचार कर प्राकृतिक नियमों का क्षेत्र निश्चित किया। उसने देखा कि चार कारणों की अनुपस्थिति मे, किसी कार्य का उत्पन्न होना सभव नही, किन्तु इन कारणो का प्रस्तुत होना ही काफी नही है। बिना किसी पदार्थ के कोई नवीन वस्तु नही बन सकती, जैसे, काँसे के बिना मूर्त्ति नही बन सकती। आकार भौतिक वस्तुओं को रूप देता है। बिना पदार्थ के आकार ग्रहण किये हुए भी नवीन वस्तु की उत्पत्ति संभव नही। काँसा जब तक मूर्त्ति का आकार नही ग्रहण कर लेता तब तक मूर्त्ति नही बनती, इन दोनों कारणों के अतिरिक्त, पदार्थ मे गति उत्पन्न करनेवाला, 'निमित्त कारण' (Efficient cause) आवश्यक है। मूर्त्तिकार जब तक काँसे को मूर्त्ति मे ढालेगा नही, तब तक मूर्त्ति नहीं बनेगी। चौथा कारण 'उद्देश्य' है। मूर्त्तिकार के मन में मूर्त्ति बनाने का सकल्प होने पर ही मूर्त्ति बनेगी। ये सब आवश्यक नियम है। किसी घटना-क्रम के पूर्ण होने पर बीच की घटनाओ में निश्चित सम्बन्ध होना अनिवार्य है। पर घटना-क्रम का पूर्ण विकास तभी हो सकता है, जब बीच में गति का अवरोध न हो।[1] योग्यता मात्र से कोई उपादान अथवा निमित्त किसी कार्य का कारण नही हो सकता।

१. फ़िजिका, पु० २, अ० ८

किन्तु गति का अबाधरूप निमित्त और उपादान के सपर्क के स्थायी रहने पर निर्भर है। यह संपर्क कब तक बना रहेगा, पहले से जाना नहीं जा सकता। गति का सचार होने के बाद गतिमान वस्तु का स्वभाव वह नही रह जाता जो पहले था। गति के प्रवाह मे कितनी ही अडचने पैदा हो सकती है। पदार्थ को चालित करनेवाली चालक-वस्तु स्वयं उसके स्पंदनो से प्रभावित होकर बहुत कुछ बदल जाती है।[1] इन सब निरीक्षणो से अरस्तू ने यह नतीजा निकाला कि प्रकृति में पायी जानेवाली निश्चितता (Necessity) का एक सदर्भ होता है, जिसके बाहर कुछ भी निश्चित नहीं।[2]

असीम का अर्थ[3]

अरस्तू ने 'असीम' (Infinite) के स्वभाव पर विचार कर यह बतलाया कि भौतिक वस्तुएँ असीम नही हो सकती। वस्तुएँ दो ही प्रकार की हो सकती है—सरल अथवा जटिल। जटिल वस्तुएँ असीम नही हो सकती, क्योकि वे बहुत-से सरल अवयवो से बनी हुई होती है और उन अवयवों के असीम होने पर, प्रत्येक जटिल वस्तु मे एक से अधिक असीम अवयव एकत्र हो जायेंगे। सरल वस्तुओं मे से कोई असीम नही हो सकती, नहीं तो वह अन्य सीमित सरल वस्तुओ को अपने में आत्मसात् कर नष्ट कर देगी।

असीम वस्तु का कोई स्थान नही हो सकता। पहली बात तो यही है कि असीम वस्तु किसी स्थान विशेष में रह ही नही सकती। अन्य तर्को से भी यही निष्कर्ष प्राप्त होता है। असीम वस्तु या तो सावयव हो सकती है या निरवयव। अवयव असीम होने पर असीम स्थानो की आवश्यकता होगी। निरवयव वस्तु के असीम होने की दो संभावनाएँ हो सकती है। पूरी वस्तु असीम होने पर पूरे विश्व में व्याप्त होगी। तब वह या तो सदैव स्थिर ही रह सकती है या सदैव परिभ्रमित रह सकती है।

१. फ़िजिका, पु० ३, अ० २, २०२ ए, २-६
२. फ़िजिका, पु० २, अ० ९
३. फ़िजिका, पु० ३, अ० ४-८

(Displacement) संभव न होता। वस्तुओं में स्थानीय गति (Locomotion) होती है। स्थान के बिना यह भी संभव न होती। स्थान के होने का तीसरा प्रमाण शून्य की परिभाषा में मिलता है। शून्य के लिए कहा जाता है कि वह वस्तुओं से रिक्त स्थान है। स्थान ही न होता तो रिक्त क्या होता। इस प्रकार, अरस्तू ने यह ठहराया कि स्थान होता है। अब उसने यह सोचना शुरू किया कि वह क्या होता है? तीन संभावनाओं पर उसकी निगाह पड़ी। स्थान भौतिक पिंड हो सकता है, पिंडों को उत्पन्न करनेवाला पदार्थ हो सकता है, अथवा उनका आकार हो सकता है। इनमें से एक को भी उसने युक्ति-युक्त न पाया। स्थान यदि पिंड होता तो दूसरी वस्तुएँ कहाँ रहतीं। फिर स्थान के लिए स्थान की आवश्यकता होती। स्थान को प्रकृति (Ultimate Matter) या आकृति (Ultimate Form) भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये दोनों वस्तुओं में रहते हैं। स्थान वस्तुओं से अलग होना चाहिए, नहीं तो वह वस्तुओं के नष्ट होने के साथ ही नष्ट हो जायगा। ऐसा होता नहीं है। अन्त में, वह यह तय करता है कि स्थान वस्तुओं के बाहर की वह गतिहीन सीमा है, जो वस्तुओं को अपने में स्थित रखती है।[१]

अरस्तू भौतिक वस्तुओं के स्थान में होने के तीन अर्थ बतलाता है। कुछ वस्तुएँ सचमुच स्थान में होती हैं, कुछ स्थान में होने की योग्यता रखती हैं और कुछ को इसलिए स्थान में मान लिया जाता है कि उनका कुछ भाग स्थान में रहता है। समावयव (Homogeneous) वस्तुओं के स्थान में होने पर उनके उन अवयवों को भी स्थान में मान लिया जाता है, जो स्थान में नहीं होते, क्योंकि अवयवी से अलग होकर वे स्थान से घिरने की योग्यता रखते हैं। गतिशील वस्तुएँ किसी स्थानविशेष में न रहने पर भी स्थान में मानी जाती हैं, क्योंकि उनमें स्थान में होने का स्वभाव रहता है। आकाश को इसलिए स्थान में माना जाता है कि उसके कुछ अवयव स्थान में रहते हैं।[२]

१. फ़िज़िका, २१२ ए, २०
२. फ़िज़िका, २१२ बी, ९-१३

अरस्तू ने इस व्याख्या से यह दिखाने का प्रयत्न किया कि भौतिक वस्तुएँ किसी-न-किसी रूप में स्थान में रहती हैं। उसी में वे गति करती हैं और किसी प्रकार का अवरोध न होने पर वे किसी निश्चित स्थान की ओर बढने का प्रयत्न करती हैं। आगे चलकर हम देखेंगे कि स्थान और वस्तु के सम्बन्धों के आधार पर ही वह तत्त्वों के स्वभाव का अनुमान करता है।

शून्य का अर्थ

पाइथागोरस के मत में 'शून्य' को वस्तुओं के स्वभाव का कारण माना गया था। उक्त मत में संख्याओं से वस्तुओं की उत्पत्ति मानी गयी थी, इसलिए उन्हें एक दूसरे से पृथक् करने के लिए, बीच-बीच में शून्य स्थान होने की कल्पना की गयी थी। अरस्तू ने अनेक युक्तियों से शून्य स्थान की कल्पना को अवास्तविक ठहराया। उसने कहा कि वस्तुओं के चारों ओर के स्थान को शून्य मानने पर, वस्तुओं के निश्चित आकार का समर्थन कठिन होगा, वस्तुओं का शून्य में स्थानान्तरण समझना कठिन होगा और गतिमान् वस्तुओं का विराम (Coming to rest) असम्भव हो जायगा।[1] इस प्रकार, अरस्तू ने यह निर्णय किया कि भौतिक जगत् में शून्य स्थान कहीं नहीं होता। यह हो सकता है कि किसी स्थान में कोई भौतिक पिंड न हो। पर यह नहीं हो सकता कि किसी स्थान में पदार्थ ही न हो। तत्त्वों से शून्य स्थान जगत् में नहीं है। शून्य का अर्थ वायु से पूरित स्थान हो सकता है।

समय की व्याख्या

अरस्तू ने 'पूर्व' और 'उत्तर' अथवा, 'पहले' और 'पीछे' के विचार से समय को गति की संख्या बतलाया। गति एक स्थान से प्रारम्भ होती है और दूसरे स्थान पर समाप्त होती है। अविराम होने पर भी, वस्तुओं के स्थानान्तरण में पहले और पीछे का अन्तर उत्पन्न हो जाता है। गति के इन काल्पनिक अंशों को समय के 'अब' कहलानेवाले भागों में स्थित समझा जाता है। ये क्षण

१. फ़िज़िका, २१६ ए, २७-३५; २१४ बी, १४; २१४ बी, २८-२१५ बी, १-१०

परस्पर संलग्न रहने पर भी, एक दूसरे से भिन्न होते हैं, क्योंकि इनका 'स्थानगत संदर्भ' (Local context) एक नही होता। फिर भी वे गति की निरन्तरता के कारण, एक दूसरे मे इतने सटे रहते हैं कि समय के प्रवाह मे कहीं भी संधि खोज पाना कठिन हो जाता है। क्षणो मे बँटे रहने के कारण ही अरस्तू समय को गति की सख्या कहता है।

समय की इस व्याख्या से उसे मालूम हुआ कि भौतिक घटनाएं समय मे उसी प्रकार घटित होती है, जैसे वस्तुएँ स्थान मे स्थित होती हैं। वस्तुओ का स्थान और समय से अनिवार्य सम्बन्ध होता है, क्योंकि परिवर्तन के दो ही मुख्य अर्थ हैं—किसी वस्तु का एक स्थान से दूसरे स्थान में चला जाना और समय के एक अश मे दूसरे अश मे पहुंच जाना। इसीलिए कहा जाता है कि समय ही वस्तुओ का नाश करता है। इस अध्ययन से उसे शिक्षा मिली कि नित्य वस्तुएँ काल-परिच्छेद से स्वतंत्र है।[1]

गति-सम्बन्धी विचार

इतनी प्रासगिक बातो पर विचार कर लेने पर, अरस्तू सभी प्रकार के परिवर्त्तनो पर दृष्टि डालता है। वह प्रकृति मे चार प्रकार के परिवर्त्तन देखता है—(१) भाव से भाव मे (From Positive into Positive or From Being into Being); (२) भाव से अभाव मे (From Positive into Negative or From Being into Non-Being); (३) अभाव से भाव में (From Negative into Positive or from Non-Being into Being) और (४) अभाव से अभाव मे (From Negative into Negative or from Non-Being into Non-Being)।[2] इनमें से तीन ही अध्ययन के विषय हो सकते है, क्योंकि अभाव से अभाव में परिवर्तन होने का अर्थ अज्ञात वस्तुओं का परिवर्त्तन है।

अभाव से भाव में परिवर्त्तन होने पर वस्तुओ की उत्पत्ति होती है। भाव

१. फ़िज़िका, २११ बी, ३
२. फ़िज़िका, २२५ ए, ४-६; मेटाफ़िज़िका, १०६७ बी, १५

से अभाव मे परिवर्त्तन होने पर वस्तु का विनाश होता है। इन परिवर्त्तनों के पूर्ण होने पर उत्पत्ति और विनाश की अवस्थाएँ भी पूर्ण होती हैं, अधूरे रहने पर, उत्पत्ति और विनाश भी अधूरे रहते हैं। किन्तु इन परिवर्त्तनो को गति नही कहते है।

गति मे भाव से भाव मे ही परिवर्त्तन होता है। इस प्रकार के परिवर्त्तन तीन होते है—(१) गुण-सम्बन्धी, (२) परिमाण-सम्बन्धी और (३) स्थान-सम्बन्धी।[१] गुण-सम्बन्धी परिवर्त्तन 'विकार' कहलाता है। परिमाण-सम्बन्धी परिवर्त्तनों को 'वृद्धि' और 'ह्रास' अथवा बढना-घटना कहते हैं। तीसरा स्थान-सम्बन्धी परिवर्त्तन 'गमन' है। यह दो प्रकार का होता है—(१) चक्राकार और रेखाकार।

विकार[२] मे वस्तु का इतना परिवर्त्तन नही होता कि वह कोई दूसरी वस्तु कही जा सके। विकार (Alteration) केवल ऐसे ही परिवर्त्तन उत्पन्न करता है जिनसे वस्तु का रूप ज्यो का त्यो बना रहे; जैसे ठडी वस्तु का गर्म हो जाना, गर्म से ठडा हो जाना, मीठे मे खट्टा और खट्टे से मीठा हो जाना। विकृति के निरीक्षण के आधार पर अरस्तू ने निर्जीव और सजीव वस्तुओ मे भेद करने का प्रयत्न किया है। निर्जीव वस्तुओ मे इन्द्रिय-विकार नही हो सकते। निर्जीव वस्तुओं को क्या मालूम कि उनमे कौन से परिवर्त्तन हो रहे है। सजीव प्राणियों को इस तरह का ज्ञान होता है।

वृद्धि और ह्रास के विषय मे अरस्तू ने अधिक कुछ नही कहा है। प्रसगत, उसने बतलाया कि विकार होने पर ही वृद्धि अथवा ह्रास हो सकता है।[३] इस प्रकार, गति के तीन भेद मानते हुए भी उसने दो को मिला दिया। फिर, उसने वृद्धि और ह्रास को स्थान मे स्थित कहकर, तीनो को एक मे

१. फिजिका, २२५ बी, ७, मेटाफ़िजिका, १०६८ ए, ८
२. फिजिका, २४१ ए, २५; २४५ ए, ५; २४५ बी, १; २४६ बी; २४८ ए, १-९
३. फ़िजिका, २११ ए, १५; २२६ ए, ३१; २५० ए, २९; २६० बी, १३

घटा दिया। सचमुच, उसने गति के तीन भेद करते हुए भी 'गमन' को ही गति माना है। इसी मे पूरी वस्तु गतिमान् होती है।

गमन (Locomotion) का स्वभाव

रेखाकार गति होने पर, गतिमान् वस्तु सीधी रेखाओं पर, ऊपर, नीचे, दाये और बाये चलती है। चक्राकार गति मे पूरी वस्तु, एक ही स्थान पर रहते हुए, अपनी अटल धुरी के चारो ओर घूमती है। अरस्तू इस दूसरे प्रकार की गति को ही प्राथमिक तथा पूर्ण सिद्ध करता है। उसका कथन है कि 'चक्राकार गति' (Circular Movement) अविराम हो सकती है, वह निश्चित हो सकती है और उसमे वेग समान रह सकता है।

रेखाकार गति आदि और अन्त से सीमित रहती है, क्योकि वे रेखाएँ जिन पर गति होती है, अनन्त नही हो सकती। जिसमे आदि और अन्त है, वह पूर्ण नही हो सकता। चक्राकार गति किसी सीमित रेखा पर तो होती नही है। अटल धुरी पर घूमनेवाली वस्तु निरतर घूमती रह सकती है।[1] उसका स्थानान्तरण तो होता नहीं, इसलिए उसमें आदि और अन्त नही होते।

रेखाकार गति अनिश्चित होती है, क्योकि वह विभिन्न स्थानीय संदर्भो को पार करती है। चक्राकार गति मे, वस्तु अपने निश्चित सदर्भ से बाहर नही जाती। ऊपर कहा जा चुका है कि अपने स्थानीय सदर्भ से हटकर, दूसरे स्थानीय सदर्भ मे जाते ही वस्तु का गत्यात्मक स्वभाव भिन्न हो जाता है।

वेग (Velocity) की समानता की दृष्टि से भी, चक्राकार गति रेखाकार गति की अपेक्षा पूर्ण होती है। रेखाकार गति का वेग आदि से अन्त तक एक नही रह सकता। इसका कारण यह है कि गतिमान् होने से पूर्व, चलनशील वस्तु का वेग शून्य होता है। चालित होने पर, जितना वह आगे बढती है, उतना ही उसका वेग बढ़ता जाता है, किन्तु वह अपने विराम-स्थान तक उसी वेग से नही जा सकती। इसलिए, अतिम बिदु जितना पास आता जाता है, वेग उतना ही घटता जाता है। चक्राकार गति का न कोई प्रारभिक

१. फ़िजिका, अ० ९, २६५ बी, ५-१०

विन्दु होता है, न अतिम । इसलिए चक्राकार गति मे निरतर एक ही वेग रह सकता है।

इन विशेषताओ के कारण अरस्तू ने चक्राकार गति को प्राथमिक तथा नित्य माना और इन्ही विचारो के आधार पर भौतिक वस्तुओ को गति देनेवाले 'प्रथम चालक' के स्वभाव का अनुमान करने का प्रयत्न किया।

प्रथम चालक (First Mover) का अनुमान

गमन के स्वभाव के अध्ययन से अरस्तू ने यह निश्चय कर लिया था कि चक्राकार गति का केन्द्र ही भौतिक वस्तुओ मे निरंतर गति उत्पन्न कर सकता है। अब उसके सामने यह प्रश्न था कि वह कौन-सी वस्तु है। उसने देखा कि अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी मे से किसी मे भी चक्राकार गति की सामर्थ्य नही है। ये चारों तत्त्व रेखाकार गति ही कर सकते है। अग्नि और वायु का स्वभाव ऊपर जाने का है, पृथ्वी और जल का स्वभाव नीचे जाने का है। इसलिए उसने अनुमान किया कि इन चार भौतिक तत्त्वो से भिन्न, कोई पाँचवाँ तत्त्व है, जिसका स्वभाव अहर्निश चक्र की भाँति घूमने का है। इसे अरस्तू ने 'ईथर' कहा।[1]

'ईथर' का अर्थ सदैव भागते रहनेवाला होता है। यहाँ पर अरस्तू वैज्ञानिक कल्पना को प्राचीन धार्मिक भावना से मिला देता है। वह कहता है कि प्राचीन यूनानियो ने भौतिक जगत् के परे देवलोक की कल्पना की थी और यह माना था कि भौतिक घटनाएँ देवताओं की इच्छा पर निर्भर है। वैज्ञानिक दृष्टि से भी ससार का ऊपरी भाग, जिसे आकाश कहते है, निरंतर चलित तत्त्व 'ईथर' से बना है। 'ईथर' का अन्य तत्त्वो से संपर्क है। इसीलिए 'ईथर' की गति अन्य तत्त्वो को गतिमान् करती रहती है। इस प्रकार, आकाश ही 'प्रथम चालक' है। अटल धुरी पर घूमने के कारण उसका स्थानान्तरण नही होता और, इस अर्थ में, वह निश्चल है।

१. डी कीलो, २७० बी, ५-२५

प्रथम चालक का स्वभाव

परिवर्त्तनशील चालक विश्व को निरंतर गति न दे पाता। प्रथम चालक मे किसी प्रकार के परिवर्त्तन नही होते।[१] इसकी उत्पत्ति और इसके विनाश की कल्पना नही की जा सकती, क्योकि ये परिवर्त्तन विकार, वृद्धि, ह्रास आदि परिवर्त्तनो के बिना सभव नही।[२] प्रथम चालक के सदृश कोई दूसरी वस्तु नही, न उससे विपरीत धर्मवाली ही कोई वस्तु है।[३] प्रथम चालक से बाहर कुछ भी नही है। उससे बाहर न स्थान है, न शून्य है और न समय है।[४] किन्तु, वह भी 'असीम' नही है।

आकाश यदि असीम होता तो उसके केन्द्र से परिधि तक की दूरी भी असीम होती और उस दशा मे चक्राकार गति की सभावना ही नष्ट हो जाती।[५] असीम होने पर असीम समय मे ही उसका चक्कर पूरा होता, किन्तु ऐसा नही होता है। वृत्ताकार होने से ही उसका सीमित होना सिद्ध है, क्योकि असीम रेखा को मोडकर वृत्त नही बनाया जा सकता।[६] सोच-समझकर, अरस्तू ने आकाश को सीमित वृत्ताकार पिड माना। वह इसे पूर्ण मानता था और उसके विचार से असीम पूर्ण नही हो सकता।

अरस्तू ने आकाश मे चार परिमितियाँ (Dimensions) मानी थी। ये ऊपर, नीचे, दायें और बायें है।[७] उसका कथन है कि आकाश मे दो सिरे है। हमे अपने ऊपर जो भाग दिखाई देता है, वह आकाश का नीचेवाला सिरा है। ऊपरवाला सिरा हम देख नही सकते। आकाश के दाहिने भाग में

१. फ़िजिका, २६६ ए, ८
२. डी कीलो, २७० ए
३. डी कीलो, २७० ए, २०
४. डी कीलो, पु० १, अ० ९
५. डी कीलो, २७२ ए, १-५
६. डी कीलो, २७२ बी, २५-२९
७. डी कीलो, २८५ ए, ३०-३२

सितारे चमकते हैं और बायाँ भाग वह है, जिसमे वे अस्त हो जाते हैं।[1] आकाश को वह गति का ही नहीं, जीवन का भी स्रोत मानता था। वह आकाश को जीव-मय (Full of Life) कहता था। इसे वह देवताओं का निवास-स्थान भी समझता था।[2]

इस प्रकार, हम देखते है कि अरस्तू ने अपने वैज्ञानिक चिंतन के द्वारा उन्ही विश्वासों को पुष्ट किया, जिन्हे प्राचीन विचारकों ने बिना किसी अध्ययन, अनुसधान और युक्तियों के मान लिया था। अरस्तू के वैज्ञानिक अध्ययन का यह अग भौतिक जगत् के विस्तृत अध्ययन के आधार पर, सूक्ष्म अस्तित्वों का अनुमान करने का संकेत देता है। किन्तु उसके वैज्ञानिक साहित्य में प्रचलित अधविश्वासों को मिटाने का पूरा प्रयत्न किया गया है। उसके समय तक आकाशगगा, उल्का-पात आदि घटनाओं की अलौकिक व्याख्याएँ प्रचलित थी। अरस्तू ने विश्व का ऊर्ध्व (Upper cosmos) और अधोलोको (Lower cosmos) मे विभाजन कर यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि चन्द्रमा के नीचे का भाग पूर्ण रूप से भौतिक है। दैवी न होने पर भी दैवी समझी जाने वाली घटनाओं की अधोलोक में स्थिति दिखलाकर तथा भाप, ताप आदि को उनका कारण बतलाकर एक ओर उसने परम्परागत अज्ञान का निराकरण किया और दूसरी ओर भौतिक विज्ञान के विकास को प्रेरणा दी। नीचे के विवरण मे अरस्तू के भौतिक अध्ययन के इसी पक्ष को प्रदर्शित किया गया है।

विश्व का विभाजन

प्राचीन यूनानियों के विचार से पृथ्वी और स्वर्ग दो भिन्न लोक थे। स्वर्ग मे अमरो का निवास था और इस लोक की घटनाएँ उन्ही की इच्छा पर निर्भर थी। अरस्तू ने इस धारणा की भौतिक व्याख्या प्रस्तुत की। उसने कहा कि आकाश पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि से नही बना है। वह ईथर नामक सूक्ष्म तत्त्व से बना है। ईथर की चक्राकार गति से ही चारो भौतिक तत्त्वों को,

१. डी कीलो, २८५ बी, १५-२०
२. डी कीलो, २७८ ए, २९-३०; २८५ बी, २४-२५

जिनका स्थान आकाश अथवा स्वर्ग से नीचे है, गति मिलती है। स्वर्ग का विस्तार चन्द्रमा से ऊपर है। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र और ग्रह इसी ईथर-निर्मित स्वर्ग में स्थित हैं। इस प्रकार अरस्तू ने चन्द्रमा को विभाजन-रेखा मानकर विश्व को ईथर से बने हुए ऊर्ध्वलोक और चार भौतिक तत्त्वों से बने हुए अधोलोक में बाँट दिया।

अधोलोक चन्द्रमा से नीचे पृथ्वी तक फैला हुआ है। इसमे एक के बाद एक चारो तत्त्वों के घेरे अथवा मडल है। अत्यत लघु (Light in weight) होने के कारण, आकाश के ठीक नीचे अग्नि का मडल है। उसके नीचे वायु, वायु के नीचे जल और जल के नीचे अथवा गोलाकार जगत् के केन्द्र मे पृथ्वी स्थित है। इस प्रकार अरस्तू ने चन्द्रमा की छाया मे स्थित जगत् को चार उपलोको में विभाजित किया। यह विभाजन उसकी डी कीलो[1] नामक पुस्तक मे मिलता है। जेनरेशनी एट करप्शनी[2] मे दो-दो तत्त्वों के स्वभाव-साम्य के आधार पर उपर्युक्त चार विभागो को दो मे घटाया गया है। अग्नि और वायु स्वभावत ऊर्ध्वगमन करते है, इसलिए इन दोनों के मडलों को एक साथ अंतरिक्ष कहा गया है। जल और पृथ्वी के अधोगामी स्वभाव के कारण इनके मंडलो को एक साथ भूलोक कहा गया है।

आकाश की घटनाएँ

अरस्तू के साहित्य में उन दृष्टि-सम्बन्धी घटनाओ को, जिन्हे साधारण जन सिर के ऊपर घटित होते देखकर आकाश मे स्थित मानते है, अन्तरिक्ष मे स्थान दिया गया है। आकाश-पिडो के विषय मे उसका ज्ञान बहुत अपूर्ण था। वह स्वय कहता था कि दूर होने से वह आकाश-पिडो के सफल निरीक्षण में असमर्थ है। फिर भी आकाश की घटनाओ के प्रसंग मे, उसने नक्षत्रो के सगीत आदि के रूप मे प्रचलित किवदंतियो को अवास्तविक सिद्ध करने का प्रयत्न किया। डी कीलो में उसने बतलाया है कि नक्षत्रो मे स्वतंत्र रूप से गति

१. डी कीलो, २८६-ए, ४; २९२-ए, १०
२. जेन० एट कर०, ३३०-बी, ३१-३५

नही होती। वे केवल गति करते हुए-से प्रतीत होते है, क्योकि ईथर के वे वृत्त[1] जिनमे नक्षत्र जडे हुए है घूमते रहते है। नक्षत्रों की स्थिरता[2] सिद्ध करने के लिए उसने दो युक्तियाँ दी है। उसका कथन है कि गोलीय वस्तु दो ही प्रकार से गति कर सकती है। वह एक ही स्थान पर रहते हुए किसी अटल धुरी पर नाच सकती है अथवा गेद की तरह लुढक सकती है। किन्तु नक्षत्र नाचते नही है, क्योकि वे स्थान बदलते हुए दिखाई देते है और वे लुढकते भी नही, क्योकि चन्द्रमा का मुख सदैव दिखाई देता है।

नक्षत्रो के प्रकाश का भी वह समर्थन नही करता था। उसका कथन है कि ईथर-वृत्तो की गति से विकम्पित वायु मे घर्षण[3] होने से वह चमक उठती है। नक्षत्रों के टिमटिमाने[4] पर उसकी उक्ति यह थी कि दूर से आनेवाली प्रकाश-किरण के हिलने से ऐसा लगता है कि नक्षत्र जलते-बुझते रहते हैं। वह जानता था कि वस्तु और उसको छूकर आनेवाली किरण दोनो के हिलने से मानवीय प्रत्यक्ष मे वस्तु ही हिलती हुई मालूम होगी। इसी प्रकार उसने पाइथागोरस के कथन का कि नक्षत्रो से एक प्रकार का सगीत निकलता रहता है, विरोध किया। उसने कहा कि आकाश के पिडो मे यदि गति होती तो उनसे सगीत नहीं तुमुल कोलाहल उत्पन्न होता जो नीचे के ससार को कम्पित कर चूर-चूर कर देता, किन्तु उनमे गति नही है।

अंतरिक्ष की घटनाएँ

अरस्तू अंतरिक्ष की घटनाओ को वायु-मडल की ऊपरी सतह में स्थित गैसो और भाप पर निर्भर मानता था, यद्यपि गैस के स्वभाव का उसे ठीक-ठीक ज्ञान न था। वह समझता था कि पृथ्वी से गीली और सूखी दो प्रकार की भाप निकला करती है। ऊपर उठकर सूखी भाप जब अग्नि-मडल के समीप-

१. मेटा०, १०७३—बी, १७-१०७४—ए, १३
२. डी कीलो०, २८९—ए, १२; २९०—बी, ११; २९१—ए, १९
३. डी कीलो, २८९—ए, १९
४ डी कीलो २९०—ए, १५-१९

वाले वायु-मंडल में पहुँचती और जलने लगती है तब तारे टूटना आदि प्रकाश-मय दृश्य उत्पन्न होते हैं। जब गीली भाप ऊपर जाकर सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्रों के चारों ओर जम जाती है तब प्रकाश-वृत्त, सूर्यभ्रम आदि घटनाओं की उत्पत्ति होती है।

तारे टूटना

अरस्तू ने बतलाया कि 'तारे टूटना' मुहावरा है, वास्तविकता नहीं। यह घटना तब उपस्थित होती है जब पृथ्वी से उठनेवाली सूखी भाप ऊपर जाकर गीली भाप से घिर जाती है। ऐसी स्थिति में यदि गीली भाप ठंडी होकर सिकुड़ने लगती है तो दब न सकने के कारण सूखी भाप बलपूर्वक अपने चारों ओर के हिमावरण को फाड़कर बाहर निकल पड़ती है और दूर तक वेग के साथ दौड़ती हुई चली जाती है। इस क्रिया में सूखी भाप का संतप्त वायु से घर्षण होता है और वह जल उठती है। तभी पृथ्वी से देखनेवाले को ऐसा मालूम होता है कि नक्षत्र टूटकर दौड़ गया है। कभी-कभी जलती हुई गैस की चौड़ी पट्टी बन जाती है और वह आकाश में फैली हुई दरार-सी मालूम होती है। कभी, गैस की पतली रेखा बन जाती है और वह चमकदार धारी मालूम होती है। किन्तु प्रत्येक दशा में वह पृथ्वी से उठी हुई सूखी भाप अथवा गैस ही होती है।[1] तारे टूटने की घटना से मिलती-जुलती दो और घटनाएँ हैं, जिन्हें साधारण दृष्टि आकाश में स्थित समझती है। ये पुच्छल तारे और आकाशगंगा (Milky way) हैं।

पुच्छल तारे

एनेक्जागोरस और डेमोक्रिटस[2] ने यह माना था कि जब कई ग्रह एक दूसरे को छूने लगते हैं तब पुच्छल तारा बन जाता है। पाइथागोरस के सम्प्रदाय में भी इसे एक प्रकार का ग्रह ही माना गया था।[3] हिप्पोक्रेटीज़ और ईस्काइलस

१. मीटिओरो०, ३४१—बी, ३५-३४२ ए, ३४
२. मीटिओरो०, ३४२—बी, २७-२९
३. मीटि०, ३४२—बी, ३०

ने पुच्छल तारे को ग्रह न मानकर नक्षत्र माना था।[1] जन-धारणा के अनुसार पुच्छल तारे का दिखाई देना अथवा उल्कापात किसी न किसी विपत्ति की सूचना देता था। अरस्तू ने अपने जीवनकाल मे कई पुच्छल तारों का उदय देखा था। एक[2] ईसापूर्व ३७३–७२ मे एकिया के भूकम्प के पहले दिखाई दिया था। दूसरा,[3] कोरिथ के तूफान के पहले ईसापूर्व ३४१-४० मे दिखाई दिया था। इन निरीक्षणों के आधार पर उसने भी पुच्छल तारे का दिखाई देना अशुभ माना था, किन्तु वह इसके ग्रह अथवा नक्षत्र होने का समर्थन नही करता था। उसका कहना था कि तारे टूटने की भाँति ही गैस के जलने से पुच्छल तारा भी बन जाता है। अतर यह है कि ताप अधिक होने के कारण यदि गैस के जलने की क्रिया शीघ्र समाप्त हो जाती है तो तारा टूटता हुआ मालूम होता है। वही क्रिया मद गति से होने पर पुच्छल तारा बन जाता है। यह घटना भिन्न-भिन्न ऊँचाइयों पर होने से कभी पुच्छल तारा अकेला दिखाई पडता है, कभी किसी ग्रह अथवा नक्षत्र के साथ मालूम होता है।[4]

आकाशगंगा

अरस्तू के समय मे इसके विषय मे विभिन्न धारणाएँ प्रचलित थी। पाइथागोरस के सम्प्रदाय में इसे सूर्यपुत्र फीदन[5] के साथ आकाश से गिरे हुए सितारे का मार्ग समझा जाता था। एनेक्जागोरस और डेमोक्रिटस के मत मे यह कुछ सितारो की रोशनी है जो सूर्य की किरणो से टकराते रहने के कारण नीचे नही

१. मीटि०, ३४३—ए, ४-७
२. मीटि०, ३४३—बी, १-४
३. मीटि०, ३४५—ए, २-५
४. मीटि०, ३४४—ए, १६-१७
५. सूर्यपुत्र फ़ीदन (Phaedon) के पतन की कथा का संकेत मीटि०, ३४४—बी, १४ में मिलता है। पूरी कथा के लिए देखिए—
   क. ओविड, मेटामार्फोजिज, पेंगुइन क्लासिक्स, सं० ५८, पृ० सं०, ५२-६५
   ख. एडिथ हैमिल्टन, माइथालॉजी, मेंटर सीरीज, पृ० सं०, १३१-३४

उतर पाती। अरस्तू ने, इन सबके विरुद्ध यह बतलाया कि पृथ्वी से उठनेवाली अधजली गैसे चन्द्रमा और सूर्य के मार्ग मे तथा राशि-चक्र (Zodiac circle) में गति अधिक होने के कारण इकट्ठी नही हो पाती है। किन्तु सबसे बड़े वृत्त मे जहाँ नक्षत्रो के बड़े-बड़े समूह है और बहुत से छितराये हुए नक्षत्र है, इकट्ठी होकर वे आकाशगगा बना देती है।

अरस्तू की ये व्याख्याएँ आज के विज्ञान के सामने चाहे जितनी फीकी लगे, किन्तु उस काल मे इन दैवी समझी जानेवाली घटनाओ को सूखी और गीली भाप से उत्पन्न बतलाकर भौतिक विज्ञान की उन्नति की ओर उसने अच्छा कदम उठाया था। उसकी अंतरिक्ष की घटनाओं की सूची में बादल, कोहरा, ओस, वर्षा, पाला, गर्जन, कौंध तथा वज्रपात आदि घटनाएँ भी सम्मिलित है। इनके सम्बन्ध में उसने कोई विशिष्ट बात नही कही है। केवल इतना ही ज्ञातव्य है कि वह इन सबको पुच्छल तारे आदि उपर्युक्त घटनाओं के सदृश भाप और गैस की घटनाएँ समझता था। उसे विद्युत् के अस्तित्व का पता न था, इसलिए उसने गर्जन, कौंध और वज्रपात को भी सूखी भाप के जलने से ही उत्पन्न बतलाया था। गर्जन के सम्बन्ध मे उसका विचार था कि यह बलपूर्वक जमी हुई भाप मे से निकलकर भागनेवाली गैस की सामने के बादलों पर पड़ी हुई थपेड है। इस प्रसंग में उसकी प्रकाश-वृत्त, सूर्यभ्रम और इन्द्रधनुष की व्याख्याएँ ध्यान देने योग्य है।

प्रकाशवृत्त, सूर्यभ्रम और इंद्रधनुष

प्रकाशवृत्त[1] से तात्पर्य उस वृत्त अथवा कुडली से है जो कभी-कभी सूर्य और चन्द्रमा के चारो ओर दिखाई देती है। अरस्तू का कथन है कि जब वायुमडल में भाप इकट्ठी होकर छोटे-छोटे बादलो का रूप लेने लगती है तो प्रकाश की किरणे उन बादलों के टुकड़ो से परावर्त्तित (Reflected) होकर हमारी आँख तक आती है और उनमे हमें सूर्य, चन्द्र आदि के प्रतिबिम्ब दिखाई देते है।

१. मीटि०, ३७२–बी, १५; ३७२–बी, २३-२४, २९; ३७३ ए, २०

इसी प्रकार सूर्यभ्रम[1] (Mock sun) के सम्बन्ध मे उसने कहा कि यह जमी हुई भाप का टुकडा है, जो सूर्य की किरणो के लिए परावर्त्तक (Reflector) माध्यम का काम देता है। ताप अधिक रहने पर भाप का सघनन (Condensation) सभव नही होता, इसीलिए यह दोपहर में नही केवल सूर्योदय और सूर्यास्त के समय दिखाई देता है।

खेद है कि अरस्तू ने इन्द्रधनुप[2] को भी प्रकाश के परावर्त्तन (Reflection of light) से ही उत्पन्न बताया था। सम्भवत. उसे प्रकाश के आवर्तन (Refraction) का ज्ञान न था। किन्तु इस प्रसग मे कुछ बाते दृष्टव्य है। इन्द्रधनुप के रगो पर विचार करते हुए उसने कहा कि उसमे तीन ही रग होते हैं—लाल, हरा और बनफ्शी (Violet)। ये तीनो श्वेत प्रकाश के परावर्तन से उत्पन्न प्रभाव है। शेप रग इन्हीं तीनो के दृष्टिगत विकार हैं। लाल और हरे के बीच मे दिखाई देनेवाला नारंगी रग दोनो के मिश्रण का प्रभाव है। पीला रग लाल और हरे रंगो की सह-स्थिति के कारण दिखाई देता है, क्योंकि हरे के प्रभाव से लाल रग मे कुछ सफेदी दौड जाती है। डी सेंसू[3] मे उसने यह भी कहा है कि रंगो का दृष्टिगत प्रत्यक्ष वस्तु के द्वारा आँख और वस्तु के बीच के माध्यम में उत्पन्न किये हुए परिवर्तनो पर निर्भर है। अरस्तू के ये विचार कितने नवीन मालूम होते है।

पृथ्वी की घटनाएँ

पृथ्वी की घटनाओं पर विचार करते हुए, अरस्तू ने नदियो के स्रोत, समुद्र के खारेपन, हवाओं की उत्पत्ति तथा भूकम्प के कारणो को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उनमे कोई विशेप वैज्ञानिकता नही है। आश्चर्यजनक बात जल और स्थल के विपर्यय[4] की है। उसने बतलाया है कि पृथ्वी के गर्भ मे

१. ३७२–ए, १०

२. ३७१–बी, २७-३७२–ए, ७, ९, २१-२८; ३७३ ए, १; ३७४–ए, ३; ३७४ बी, ३१; ३७५ ए, ६

३. डी सेंसू, ४४०–ए, १८

४. मीटि०, पु० १, अ० १४ विशेष, ३५१ बी, ५-२०

वृद्धि और ह्रास के परिवर्त्तन उसी प्रकार होते रहते है, जैसे वनस्पतियो और जन्तुओ के शरीर मे। इसी लिए पृथ्वी के जो भाग कभी गीले थे अब सूख गये है; जहाँ पर एक समय रेत था वहाँ अब नदी बहती है। कालान्तर मे जल और स्थल का यह विपर्यय बराबर होता रहा है, किन्तु इतने धीरे-धीरे कि इसमे मनुष्य की सभ्यताएँ बीत गयी है। ये बाते उस समय कही गयी थी जब पाश्चात्य विज्ञान को अपने अस्तित्व का ज्ञान न था।

अध्याय ५

रसायन-विज्ञान

अरस्तू ने भौतिक पदार्थों की रासायनिक प्रकृति पर भी विचार किया था। किन्तु अरस्तू का समय विज्ञानों के प्रारंभ का समय था। उस समय तक रासायनिक क्रियाओं का विचार, आज की भाँति विकसित नहीं हो पाया था। इसी लिए अरस्तू के रासायनिक चिंतन में, सरल पदार्थों और उनके रूपान्तरों को—वस्तुओं के पाक, क्वथन, सघनन (Condensation) आदि को ही स्थान मिल पाया था। इनके विवेचनों का, आज के रसायन-शास्त्र की दृष्टि से, बहुत मूल्य नहीं है। किन्तु हमें तो यह देखना है कि जब रसायन-शास्त्र जैसा कोई विषय न था, अरस्तू ने किस सूक्ष्मता से सामान्य पाक आदि के स्वभाव पर विचार कर, भावी अध्ययनों के लिए मार्ग दिखाया।

अणुवाद का खंडन

अरस्तू से पहले ल्यूकिपस और डेमोक्रिटस ने तत्त्वों का विश्लेषण कर अणुवाद (Atomic theory) की स्थापना की थी। इस मत[१] के अनुसार भौतिक वस्तुएँ पदार्थ के अति सूक्ष्म कणों से बनी हैं। इन कणों की संख्या सीमित नहीं है। आकार के अतिरिक्त इनमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। वस्तुओं की विविधता सूक्ष्म कणों के विविध संयोगों पर निर्भर है। अरस्तू ने अपने भौतिक-शास्त्र में गति के भेदों के आधार पर चार तत्त्वों की स्थापना कर ली थी। इसलिए, उसने अणुवाद के विरुद्ध[२] यह सुझाया कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि सरल पदार्थों की व्याख्या के लिए असंख्य कणों की

१. डी कीलो, ३०३ ए, ५—३०३ बी, ९

२. डी कीलो, ३०३ ए, २६-२८; १९-२१

कल्पना करना व्यर्थ है। उसने दूसरी आपत्ति यह की कि अणुओं के आकार-भेद के आधार पर तत्त्वों का स्वभाव-भेद नही समझाया जा सकता। अरस्तू की अंतिम आपत्ति यह थी कि आकार-भेद स्थायी मान लेने पर तत्त्वो की 'पारस्परिक परिणति' (Mutual Transformation) न समझायी जा सकेगी। अरस्तू के विचार से तत्त्वो की परिणति[1] का सिद्धान्त ही उत्पत्ति और विनाश के निरतर क्रम को समझा सकता है।

एक-तत्त्व-वाद (एक मूल तत्त्व से ससार की उत्पत्ति के सिद्धान्त) का खंडन

अणुवाद का तिरस्कार कर चुकने पर, अरस्तू ने एक-तत्त्ववाद पर विचार किया। इस मत का समर्थन माइलीशियन[2] विचारकों तथा हेरा-क्लाइटस ने किया था। इस मत के अनुसार सृष्टि के पूर्व एक तत्त्व था, उसी से चार तत्त्व उत्पन्न हुए। पर किसी ने यह न बतलाया था कि एक तत्त्व से अन्य तत्त्व कैसे उत्पन्न होते है। अरस्तू के साक्ष्य[3] से मालूम होता है कि संश्लेषण-विश्लेषण, घन-विरल, स्थूल-सूक्ष्म, लघु-दीर्घ आदि आपेक्षिक प्रत्ययों की सहायता से तत्त्वो की उत्पत्ति और उनके विनाश की व्याख्या की गयी थी। इन प्रत्ययों को वह उक्त व्याख्या के लिए पर्याप्त नही समझता था। इसलिए उसने इस मत का तिरस्कार कर दिया।

चार तत्त्वो का सिद्धान्त

अब तीसरा मत एम्पीडॉक्लीज के चार तत्त्वो का सिद्धान्त था। यह अरस्तू के मत से मिलता था। उसने भी इसी का समर्थन किया। उसके विचार से तत्त्व उसी को कहते है, जिसमे कुछ न कुछ भार हो, जो किसी स्थान में स्थित रह सके और जिसमे गमन की क्षमता हो। इन तीनो गुणो

१. डी कीलो, ३०५ ए, ३२-३५
२. थेलीज, एनेक्जीमेंडर और एनेक्जीमिनीज माइलीशियन कहलाते हैं
३. डी कीलो ३०३ बी १८-२८

को वह सम्बद्ध मानता था। जिस वस्तु मे भार है, वही स्थान मे रहती है और किसी प्रेरक से बाध्य होने पर गति भी कर सकती है।[1]

स्थान-भेद से तत्त्वों की संख्या का निश्चय

अरस्तू ने गति के भेद से चार तत्त्व माने थे। इन्ही का उसने स्थान-भेद से भी समर्थन किया। उसका कथन है कि गोलाकार जगत् में केन्द्र और परिधि दो एक दूसरे के विरुद्ध स्थान हैं। ये ही जगत् की सीमाएँ हैं। तत्त्व का स्वभाव स्थान में होने का है। इसलिए, तत्त्वों की सख्या कम से कम दो हो सकती है। पर दो तत्त्व होने पर केन्द्र और परिधि के बीच का स्थान रिक्त होगा। यह पहले ही कहा जा चुका है कि ससार में कही भी रिक्त स्थान नही है। इसलिए, निश्चय ही केन्द्र और परिधि के बीच के स्थान मे कोई-न-कोई तत्त्व होना चाहिए। पर, ऐसा होने पर एक ही तत्त्व का कुछ भाग केन्द्रीय तत्त्व के और कुछ परिधीय तत्त्व के समीप होगा। इस स्थिति में तीसरे तत्त्व में, स्थान-भेद से, अंतर्विरोध होगा। इसलिए बीच के स्थान मे दो तत्त्व होना निश्चित है—एक केन्द्रीय तत्त्व से मिलता-जुलता, दूसरा परिधीय तत्त्व से मिलता-जुलता।

तत्त्वों का स्थान-निर्णय

इस प्रकार चार तत्त्व निश्चित हो जाने पर, उसने भार के आधार पर अग्नि का स्थान परिधि और पृथ्वी का केन्द्र बतलाया, क्योंकि इनमे से अग्नि निरपेक्ष रूप मे लघु (Absolutely Light) और पृथ्वी निरपेक्ष रूप से गुरु (Absolutely Heavy) है। वायु को उसने अग्नि के नीचे का स्थान दिया, क्योंकि वह अग्नि की अपेक्षा गुरु और जल की अपेक्षा लघु है। जल को उसने पृथ्वी के ऊपर का स्थान दिया, क्योंकि वह पृथ्वी की अपेक्षा लघु और वायु की अपेक्षा गुरु है। आपेक्षिक गुरुता (Relative Heaviness) और आपेक्षिक लघुता (Relative Lightness) का निर्णय उसने अधो-

१ डी कीलो, ३०५ ए, २४-३१

गमन के वेग के आधार पर किया था।[1] दो तत्त्वो मे से जो अधिक वेगसे नीचे गिरता है, वह अधिक गुरु है। निरपेक्ष रूप से गुरु तत्त्व सदैव केन्द्र की ओर और निरपेक्ष रूप से लघु सदैव परिधि की ओर गमन करता है।

परिणति-सम्बन्धी गुण

अरस्तू ने चार तात्त्विक गुण माने थे, जिनमें से वह दो गुणो को प्रत्येक तत्त्व के स्वभाव का निर्णायक मानता था। अग्नि गर्म और सूखी होती है, वायु गर्म और गीली होती है, जल ठडा और गीला होता है और पृथ्वी ठडी और सूखी होती है।[2] इनमे से उष्णता और शीतलता को वह सक्रिय तथा शुष्कता और आर्द्रता को निष्क्रिय मानता था।[3] गुण न कहकर इन्हे यदि अरस्तू के तत्त्वो का अवयव मानें, तो अधिक उपयुक्त होगा, क्योकि इन्ही के सयोग और वियोग पर तत्त्वो का स्वरूप निर्भर है। अवयवो की भाँति ही इनका पारस्परिक स्थानान्तरण भी सभव है। तत्त्वो की एक से दूसरे मे परिणति, उपर्युक्त गुण कहलानेवाले अवयवो के पारस्परिक स्थानान्तरण पर ही निर्भर है।

परिणति[4] का स्वरूप

अरस्तू के प्रत्येक तत्त्व मे पाये जानेवाले दो गुण परस्पर विरुद्ध स्वभाव-वाले है। इसलिए, किन्ही दो तत्त्वों में केवल एक गुण का अतर रह जाता है। दो विरोधी स्वभाववाले जोडो को ही तो चार तत्त्वों में बाँटा गया है। अग्नि और वायु दोनो गर्म है; अग्नि सूखी और वायु गीली है। उनकी यह विषमता केवल दशा की विषमता है। किसी रासायनिक स्वभाव की विषमता नहीं है। इसलिए, इसे सरलता के साथ दूर किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, वायु के गीलेपन को सूखेपन मे बदल देने पर उसके

१. डी कीलो, ३०८ ए, २९
२. डी जेन० एट कर०, ३३० बी, ४
३. मीटिओरोलॉजिका, ३७८ बी, १३
४. जेन० एट कर०, भाग २, अध्याय ४

और अग्नि के स्वभाव में कोई अंतर न रह जायगा। अरस्तू के परिणति (Transformation) के सिद्धान्त में यही विचार आधारभूत है। अरस्तू ने एक तत्त्व की दूसरे में परिणति तीन प्रकार से संभव बतलायी थी।

पहले प्रकार की परिणति, किसी भी तत्त्व के केवल एक गुण के परिवर्तन से संभव है। इस प्रकार में, परिवर्तन की चार शृंखलाएँ बन सकती हैं—(१) अग्नि को वायु में और वायु को फिर अग्नि में रूपान्तरित किया जा सकता है; (२) जल को पृथ्वी में और पृथ्वी को जल में रूपान्तरित किया जा सकता है; (३) अग्नि को पृथ्वी में और पृथ्वी को अग्नि में रूपान्तरित किया जा सकता है, (४) वायु को जल में और जल को वायु में रूपान्तरित किया जा सकता है। तत्त्वों की इस प्रकार परिणति भले ही संभव न हो, किन्तु अरस्तू के विचार में, उसके तत्त्वों के वृत्ताकार सम्बन्धों का भाव छिपा है। उसका संकेत यह है कि इन्हीं 'वृत्ताकार सम्बन्धों' (Cyclic Relation) के कारण प्रकृति में जल, वायु आदि का अन्त नहीं होने पाता।

दूसरे प्रकार की परिणति दोनों गुणों के एक साथ स्थानान्तरित होने से संभव है। अग्नि की गर्मी और सूखेपन के स्थान पर ठंडक और गीलापन आ जाय तो वह अग्नि से जल बन जायगी। अरस्तू का कथन है कि इस प्रकार के परिवर्तन भी प्रकृति में होते रहते हैं, किन्तु उनमें समय अधिक लगता है

तीसरे प्रकार की परिणति दो तत्त्वों के एक-एक गुण के पारस्परिक स्थानान्तरण पर निर्भर है। इस प्रक्रिया में दो तत्त्वों से, एक साथ, दो भिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। प्रक्रिया का रूप नीचे दिये चित्र से भली-भाँति समझा जा सकता है—

अग्नि	+	जल	=	वायु	+	पृथ्वी
गर्म	╲ ╱	ठंडा		गर्म		ठंडी
सूखी	╱ ╲	गीला		गीली		सूखी
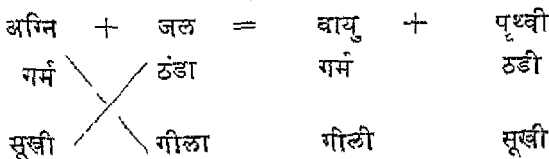
अरस्तू की इस कल्पना में एक वास्तविक रासायनिक क्रिया का स्वरूप मिलता है। यदि गर्म और सूखे आदि काल्पनिक अवयव न होकर वास्तविक होते, तो यह 'द्विविध विश्लेषण' (Double Decomposition) संभव

होता। नीचे दिये हुए समीकरण मे, उसके विचार मे मिलते-जुलते एक सत्य रासायनिक परिवर्तन का उदाहरण है—

मैंगनीज़ क्लोराइड+सल्फ्यूरिक एसिड=मैंगनीज सल्फेट+हाइड्रोक्लोरिक एसिड

मैंगनीज	हाइड्रोजन	मैंगनीज	हाइड्रोजन
क्लोरीन	सल्फ़ अश	सल्फ़ अश	क्लोरीन
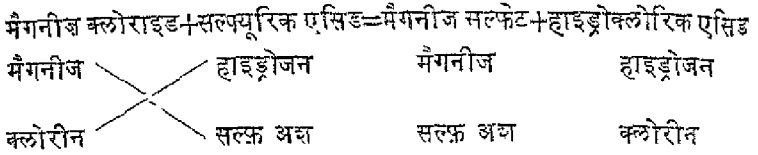
अरस्तू की कल्पनाएँ वास्तविक निरीक्षण की कमी के कारण अपूर्ण रह गयी, किन्तु वे अविकसित विज्ञान को विकास की प्रेरणा देने मे असफल न हुई। भावी वैज्ञानिक को अरस्तू से तात्त्विक परिणति, रासायनिक द्रव्य, प्राकृतिक परिवर्तन वृत्त, रासायनिक अवयवों के स्थानान्तरण आदि के विचार मिले।

अरस्तू के रसायन-विज्ञान का यही पर अन्त नही हो जाता। मीटिओ-रोलॉजिका मे उसने ऊपर बताये हुए चार गुणो को सक्रिय और निष्क्रिय भेदो मे बॉटकर, उनके प्रभावों का विशद वर्णन किया है। वह उष्णता और शीतलता को सक्रिय, आर्द्रता और शुष्कता को निष्क्रिय कहता है।

निष्क्रिय गुण (Passive Qualities)

पृथ्वी और जल मे निष्क्रिय गुणो की प्रधानता है। ये गुण अपने आप कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न करते, किन्तु इनके सबल होने पर, सक्रिय गुणो के ही प्रभाव से वस्तुएँ नष्ट हो जाती है। वे पहले नम होती है, फिर सूखती है। विनाश का यही क्रम है।[1] अरस्तू ने निष्क्रिय गुणो के विषय मे कोई ज्ञातव्य बात नहीं बतलायी। जो कुछ कहा भी है, वह बहुत अस्पष्ट है। सबसे बडी कठिनाई तो यह है कि उसके स्वीकृत तत्त्वों मे एक भी ऐसा नही है, जिसमे केवल सक्रिय अथवा केवल निष्क्रिय गुण हो। फिर वह कहता है कि ये कुछ करते नही, निष्क्रिय है और तब भी यह मानता है कि इनकी प्रधानता होने पर, सक्रिय गुण, जो स्वय प्रधान होने पर वस्तुओ का उत्पादन करते है, उन्हें नष्ट कर डालते है। बात बहुत ही दुरूह है।

१. मीटिओरोलॉजिका, अ० १, ४, ५।

सक्रिय (Active) गुण

सक्रिय गुणों में, उष्णता और शीतलता की गणना हुई है। उष्णता प्रधान होकर वस्तुओं को संतप्त करती है। शीतलता संताप के प्रभाव को कम करती रहती है। संताप से तीन परिवर्तन होते हैं—पाक (Concoction), क्वथन (Boiling) और झुलसना (Scorching)। शीतलता कुछ अधिक होने पर ये परिवर्तन अपूर्ण रह जाते हैं। अरस्तू ने संताप से होनेवाले तीनों परिवर्तनों और उनकी अपूर्ण दशाओं का विस्तार से वर्णन किया है।[1] यहाँ पर वह बतलाता है कि संताप के प्रभाव से वस्तुओं के जलीय (Aquous) अंश का परिपाक होता है।[2] फलस्वरूप, वे गाढ़ी हो जाती है, सूख जाती है। अतएव हमें समझना चाहिए कि अरस्तू के संताप के अध्ययन में द्रवों पर ऊष्मा के प्रभावों के अध्ययन का संकेत है, यद्यपि अरस्तू के निष्कर्ष सामान्य दैनिक निरीक्षणों पर ही आधारित है।

पाक

उसने पाक[3] के दो उदाहरण दिये हैं—फलों का पकना और फोड़े का पकना। फलों के पकने में, फल के भीतर के खाद्य पदार्थ का पाक ऊष्मा के ही कारण होता है। इस परिवर्तन को तब पूर्ण समझना चाहिए जब बीज में वृक्ष को उत्पन्न करने की क्षमता आ जाय। फोड़े के पकने में भी, ऊष्मा के प्रभाव से फोड़े में वर्तमान नमी का पाक होता है। इन उदाहरणों से वह इस नतीजे पर पहुँचता है कि किसी द्रव का पाक होने से वह विरल 'रेयर' से घन 'डेन्स' हो जाता है।[4] जैसे फलों और फोड़ों में पहले बहुत ही पतला, पानी से भी पतला, स्प्रिट-जैसा, रस रहता है। फिर वह पानी के समान हो जाता है और अन्त में, वह कीचड़ की भाँति गाढ़ा हो जाता है।

१ मीटिओरो०, ३७८ बी, २६
२. मीटिओरो०, ३७९ बी, ३३
३. मीटिओरो०, ३८० बी, १२
४. मीटि०, ३८० ए, २२-२५

कच्चापन पाक की अपूर्ण अवस्था है। फल आदि तभी कच्चे रह जाते हैं, जब परिपक्व होनेवाले रस से ऊष्मा का अनुपात कम होता है। अवकच्चे फलों का रस पतला और ठंडा होता है और पीने या खाने के योग्य नहीं होता।[1]

क्वथन

अरस्तू के सामने 'क्वथन'[2] का उदाहरण खाने के लिए गोश्त और तरकारियों आदि को पानी में रखकर उबालने का था। उसके अनुसार, इस क्रिया में उबाली जानेवाली वस्तु से बाहर का जल संतप्त होकर, वस्तु के भीतर के रस को सोख लेता है। इसी लिए उबाला हुआ गोश्त कड़ाही में भुने हुए गोश्त से अधिक सूखा होता है। इसके विपरीत, यदि उबाली जानेवाली वस्तु के भीतर का रस अधिक संतप्त हो तो वह अपने चारों ओर के जल को भीतर खींच ले सकती है। इसी प्रसंग में उसने यह भी बतलाया है कि वही वस्तु उबाली जा सकती है, जिसमें नमी हो, किन्तु घनत्व अधिक होने पर नम वस्तु को भी नहीं उबाला जा सकता। उदाहरण के लिए लकड़ी को हम नहीं उबाल सकते।

इस विवेचन में भी एक बहुत अच्छी बात कही गयी है। उस समय रसाकर्षण (ऑस्मॉसिस Osmosis) की क्रिया से कोई भी परिचित न रहा होगा। किन्तु अरस्तू ने बताया कि किन्हीं दशाओं में, जल में डूबी हुई रसयुक्त वस्तु, बाहर के जल को अपने भीतर खींच लेती है और किन्हीं अन्य दशाओं में बाहर का जल वस्तु के भीतर के रस को खींच ले सकता है। अरस्तू की भूल यही थी कि उसने तापक्रम पर ही इस क्रिया को निर्भर माना था। नीचे दिये हुए प्रयोग से स्पष्ट हो जायगा कि इस क्रिया का वास्तविक आधार आपेक्षिक घनत्व है। तापक्रम घनत्व को प्रभावित करता है, किन्तु वह मुख्य आधार नहीं है।

१. मीटिओरो०, ३८० ए, २६-३८० बी, १२

२. मीटि०—३८० बी, १३ से ३८१ ए, २३ तक

प्रयोग

दो लौकियो के नीचे के आधे-आधे भाग ले लीजिए। डठलवाले भागो को अलग कर दीजिए। इन टुकडो को चाकू से छील लीजिए और भीतर का बीज-वाला भाग गोलाई से तराश कर, लौकियो के दो गिलास तैयार कर लीजिए। इनमे से एक मे सादा पानी और दूसरे मे शक्कर का गाढा शर्बत आधी-आधी दूर तक भर दीजिए। अब दो इतने बड़े-बडे चौड़े मुँह के बर्त्तन लीजिए, जिनमे पानी भरकर इन गिलासो को इस प्रकार तैराया जा सके कि कम से कम आधे-आधे डूबे रहे। इन बर्त्तनो मे से एक में सादा पानी और दूसरे मे शक्कर का गाढा शर्बत भरिए। पानीवाले बर्त्तन मे शर्बतवाला लौकी का गिलास और शर्बतवाले बर्त्तन मे पानीवाला गिलास तैरा दीजिए। घटे दो-घटे के बाद आप देखेंगे कि शर्बतवाले गिलास में बाहर का पानी भर गया है और पानीवाले गिलास का बहुत-सा पानी बाहर के शर्बत मे चला गया है। दिये हुए प्रयोग से स्पष्ट है कि बाहर के द्रव का घनत्व अधिक होने से एक लौकी का पानी बाहर आ गया है और बाहर के द्रव का घनत्व कम होने से दूसरी लौकी मे भर गया है। आधुनिक काल की वैज्ञानिक भाषा में इस क्रिया को रसाकर्षण (ऑस्मॉसिस) कहते है और वनस्पति तथा रसायन विज्ञान के विद्यार्थी इससे भली-भाँति परिचित है। अरस्तू ने क्वथन के प्रसग मे इसके सकेत छोडे है, जो आज भी रसायन-विज्ञान का विषय है।

अपूर्ण क्वथन

कभी-कभी उबाली जानेवाली वस्तुएँ अध-उबली रह जाती है। इसके दो मुख्य कारण है। कभी बाहर के द्रव मे काफ़ी शीत रहने से ऐसा होता है और कभी उबलनेवाली वस्तु में नमी अधिक होने से। अध-उबली वस्तुएँ कडी रह जाती है और उनका रस ठोस भाग से अलग रहता है।

झुलसना

झुलसने[1] की क्रिया किसी वस्तु को कडाही मे बिना जल के, भूनने पर

१. मीटिओरो०, ४, ३, ३८१ ए, २३ से ३८१ बी, २२ तक

संपन्न होती है। झुलसी हुई वस्तु के बाहर का भाग अधिक कड़ा हो जाता है और भीतर का भाग उबली हुई वस्तु के मुकाबले मुलायम और रसीला रह जाता है। इसका कारण यह है कि बाहर का भाग अग्नि के बहुत समीप होने से इतनी जल्दी सिकुड जाता है कि भीतर की नमी बाहर निकल नही पाती। अरस्तू जानता था कि साग-भाजियो की बाहरी सतह मे छोटे-छोटे छिद्र 'पोर्स' होते है। इन्ही छिद्रो से, ऊष्मा के प्रभाव के कारण, भीतर का रस बाहर आ जाता है। झुलसने के संबध में अरस्तू ने अधिक कुछ नहीं कहा है। केवल उसकी वैज्ञानिक जिज्ञासा का परिचय मिलता है कि वह दैनिक अनुभव की घटनाओ पर इतने मनोयोग से विचार करता था। हम सभी लोग प्रति दिन साग-भाजी भूनते है, किन्तु कभी नही सोचते कि इस क्रिया के अधिक विस्तार से वस्तु झुलस जाती है और क्रिया मे बाधा होने से वस्तु अधझुलसी रह जाती है। अरस्तू उन बाधक कारणो की प्रकृति पर विचार कर बतलाता है कि ये वस्तु मे नमी की अधिकता तथा ऊष्मा की कमी है।

द्रवीकरण

ऊष्मा और शीत के ही प्रभावो के अंतर्गत, अरस्तू द्रवीकरण का विवरण देता है। इस क्रिया के दो भेद बताकर उसने एक का विशद विवेचन किया। ये भेद है संघनन और पिघलना। 'संघनन' का अर्थ होता है भाप को ठंडा कर, द्रव मे परिवर्तित करना। इसी को अंग्रेजी मे 'कन्डेन्सेशन' कहते है। इसका उसने केवल नाम लिया है। पिघलने के विषय मे 'मीटिओरोलॉजिका' के पूरे दो अध्यायों[1] मे चर्चा की गयी है और आगे[2] भी कई बार प्रसंग आये है।

पिघलना

अरस्तू पिघलने और घोल (Solution) बनाने मे कुछ भी भेद नहीं करता। बराबर ही कहता है कि अमुक वस्तु पानी में घुलती है और अमुक

१. छठे और सातवें अध्याय
२. आठवें अध्याय के पृष्ठ ३८५ ए की २०वी पंक्ति से पृष्ठ ३८५ वीं की ६वीं पंक्ति तक

वस्तु आग मे घुलती है; ऊष्मा से घुलती है। इस भेद को वह घनीकरण (Solidification) की प्रकृति पर निर्भर मानता था। उसके विचार से, कुछ वस्तुएं ऊष्मा से और कुछ शीत से घनीभूत होती है।[1] ऊष्मा से घनीभूत वस्तुओ को शीत और शीत से घनीभूत वस्तुओ को ऊष्मा पिघलाती है।[2] उदाहरण के लिए, जल अथवा जलीय वस्तुएं ऊष्मा से घनीभूत नही होती। शीत उनके ताप को दूर कर घन कर देता है, इसलिए ऊष्मा पिघला देती है—जैसे, बर्फ ताप से पिघल जाती है।

कुछ वस्तुएं पृथ्वी और जल का मिश्रण होती हैं। इन वस्तुओ मे से कुछ मे जल अधिक होता है और कुछ मे पृथ्वी। जल अधिक होने पर अग्नि उन्हे केवल गाढा कर देती है, घन नही कर पाती। पृथ्वी का भाग अधिक होने पर ऊष्मा और शीत दोनो से घनीकरण होता है। शीत से भी घनीकरण होने पर यदि जल का अंश नहीं रह जाता है, तो पिघलाने के लिए बहुत आँच देनी पडती है। जैसे, लोहे को पिघलाकर ठडा करने से बनी हुई 'स्टील'।

अरस्तू एक तीसरे प्रकार के मिश्रणो की बात करता है, जिनमे जल और वायु मिले रहते है। उसके उदाहरण तेल हैं। ये न तो जल से घन होते हैं और न अग्नि से। दोनो ही इन्हे गाढ़ा कर सकते हैं।

अरस्तू के इस प्रकरण मे, सामान्य नियमो की कमी है। अधिकतर भिन्न-भिन्न उदाहरणो के विषय में ही उसने अपने विचार व्यक्त किये है। इन विचारो से भावी विज्ञान को केवल द्रवीकरण (Liquefaction), घनीकरण, तरलीकरण (Rarifaction) आदि के विचार मिले। अरस्तू ने इसी प्रकरण में पिडो की उत्पत्ति का प्रकार समझाने के लिए स्थान बना लिया।

पिडों का निर्माण

वह कहता है कि पिंडों का निर्माण ऊष्मा और शीत के द्वारा तत्त्वो के

१. मीटि०, ४, ८, ३८५ ए, २२
२. मीटि०, ४, ७, ३८४ बी, ५

गाढे और घन होने से होता है। वह अधिकतर मिश्रण (मिक्सचर) की ही बात कहता है, यद्यपि उसे यह मालूम था कि कुछ पदार्थ यौगिक (कम्पाउन्ड) होते है। 'जेनरेशनी एट करप्शनी' में उसने दोनों प्रकार के पदार्थों में अतर किया है।

मिश्रण

मिश्रण[1] की विशेषता बताते हुए, अरस्तू का कहना है कि इसमे तत्त्वो के स्वभाव मे परिवर्तन नही होता, केवल उनके कण पास-पास स्थित रहते है। मिश्रण के विषय मे अब भी यही समझा जाता है।

यौगिक

अरस्तू कहता है कि यौगिक मे एक अर्थ मे अवयव (Constituents) होते है, दूसरे अर्थ मे नहीं होते। उनके न होने का अर्थ यह है कि यौगिक का स्वभाव उन अवयवो के स्वभाव से भिन्न होता है, जिनके योग से वह बनता है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि मूल अवयव नष्ट हो जाते है, क्योंकि उनकी क्रिया करने की शक्ति नष्ट नही हो जाती।[2]

पिडों की दो दशाएँ

अरस्तू गैस से परिचित न था, जैसा ऊपर भी कहा जा चुका है। इसलिए, उसने सभी पिडो को ठोसो और द्रवो मे विभाजित कर दिया था।[3]

समांग और विषमांग पिड

उसने पिडो को समाग (होमोजीनियस, Homogeneous) और विषमाग (हेटरोजीनियस Heterogeneous) में भी बाँटा है।[4] पर,

१. जेन० एट कर०, २, ७, ३३४ ए, २८-३१
२. जेन० एट कर०, ३२७ बी, २३-३२
३. मीटिओरो०, ३८९ ए, १
४. मीटिओरो, ४, १०, ३८८ ए, १०-१९

उसके मस्तिष्क में इनका अंतर स्पष्ट न था। परिभाषा न देकर, उसने दोनो के उदाहरण मात्र दिये है, किन्तु उन उदाहरणो मे हमे कुछ भी अतर नही दिखाई देता। समाग वस्तुओ के उदाहरणो मे वह सोना, चाँदी आदि धातुओं को, तथा मास, चर्म, अस्थि आदि आगिक अवयवो को भी गिना देता है। विषमांग वस्तुओं मे हाथ, पैर आदि शारीरिक अगो तथा पत्तियो, जडो आदि वनस्पति-भागो के नाम लेता है। उसके अनुसार, समाग वस्तुएँ, तत्त्वो की भाँति विषमाग वस्तुओ के अवयव बनती हैं।

पिंडों के भौतिक गुण

अरस्तू ने पिंडो के भौतिक गुणों[1] की एक लम्बी सूची दी है। उसका कथन है कि हमारी इन्द्रियों के वस्तुओ से प्रभावित होने और वस्तुओं के हमारी ऐन्द्रिक क्रियाओ से प्रभावित होने से ही वस्तुओ को एक दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। अरस्तू के द्वारा गिनाये हुए इक्कीस गुणो को भौतिक गुणो (फिजिकल प्रॉपर्टीज) के अंतर्गत ही रखा जा सकता है। ये गुण इस प्रकार है—

(१) कुछ द्रवों को ठोसो मे परिवर्तित किया जा सकता है, कुछ को नही।
(२) कुछ ठोसो को पिघलाया जा सकता है, कुछ को नही।
(३) कुछ ठोसों को ऊष्मा से मुलायम किया जा सकता है।
(४) कुछ ठोसो को जल से मुलायम किया जा सकता है।
(५) कुछ ठोसो को झुकाया जा सकता है।
(६) कुछ को तोड़ा जा सकता है जैसे लकडी।
(७) कुछ को चूर चूर किया जा सकता है। जैसे बर्फ, पत्थर।
(८) कुछ पर छाप बनायी जा सकती है, जैसे ताँबा, मोम।
(९) कुछ को भिन्न-भिन्न आकारो मे ढाला जा सकता है।
(१०) कुछ वस्तुएँ दबाने से सिकुड़ जाती है; छोड़ने से अपना पहलेवाला आकार ग्रहण कर लेती है।

१. मीटिओरो०, ४, ८ तथा ४, ९

(११) कुछ वस्तुएं एक बार दबाने के बाद, पहलेवाला आकार नही ग्रहण करती।

(१२) कुछ वस्तुओ को खीचकर तार बनाया जा सकता है।

(१३) कुछ वस्तुओ से तार नहीं बन सकते।

(१४) कुछ वस्तुओ को पीटकर पत्तर बनाये जा सकते हैं।

(१५) कुछ वस्तुओ को पीटने से पत्तर नही बनते।

(१६) कुछ वस्तुएँ फाड़ी जा सकती है।

(१७) कुछ वस्तुएँ फाडी नहीं जा सकती।

(१८) कुछ वस्तुएँ काटी जा सकती है।

(१९) कुछ द्रव इतने गाढे होते है कि सरलता से बहते नही

(२०) कुछ वस्तुएं जलायी जा सकती है।

(२१) कुछ वस्तुएं गर्म करने से धुआँ देती है।

इस प्रकार की बातें बतलाकर अरस्तू ने उस प्राचीन काल मे, रसायन-विज्ञान की एक अच्छी खासी रूपरेखा प्रस्तुत की। इसमें सन्देह नही कि उसको वस्तुओ के रासायनिक स्वभाव का ज्ञान न था। वह भौतिक गुणो को ही रासायनिक गुण मान बैठा था। आर्द्रता, शीतलता आदि साधारण भौतिक अवस्थाओ में परिवर्तन लाकर वह वस्तुओ के रासायनिक अवयवीकरण में अन्तर उत्पन्न करने की अभिलाषा कर रहा था। वस्तुओ के मूल रासायनिक अवयवो का भी उसे ज्ञान न था। जल, वायु, पृथ्वी आदि समाग एव विषमाग वस्तुओ को वह तत्त्व मान बैठा था। पर, इसी प्रकार अंधकार मे टटोलते-टटोलते विज्ञान के विभिन्न विभागो का विकास हुआ है। रासायनिक चितन की दिशा में उसने पहला कदम कितनी धूम-धाम से उठाया था; यही हमें देखना चाहिए।

अध्याय ६

जीव-विज्ञान

अरस्तू के जीव-विज्ञान-विषयक साहित्य से ठीक-ठीक मालूम नही होता कि उस समय तक इस विज्ञान का कितना विकास हो चुका था। विभिन्न प्रसगो मे अरस्तू ने आंशिक आलोचना के लिए डेमोक्रिटस, एम्पीडॉक्लीज, हिपोक्रेटीज, प्लेटो आदि के नाम लिये है। जीव-विज्ञान के इतिहास लिखने-वालों ने प्राय यह माना है कि अरस्तू ने अपनी पुस्तको मे न केवल अपने विद्यार्थियो के द्वारा एकत्र किये हुए, वरन् अपने सम-सामयिक विचारकों के तथा अपने पूर्ववर्त्ती विचारको के जीव-संबंधी समस्त ज्ञान को सम्मिलित कर लिया था।[1] दर्शन के इतिहासो से भी अरस्तू से पहले, किसी व्यवस्थित जीव-विज्ञान के विकास की सूचना नही मिलती। 'नेचुरल फिलॉसफर' कहे जानेवाले विचारको के नाम पर स्फुट मत अवश्य मिल जाते है। जैसे जेलर ने लिखा है कि एनेक्जीमैंडर के अनुसार मनुष्य अपनी अविकसित अवस्था मे जलचर था। उसके ऊपर मच्छर के कोशित (प्यूपा) की भाँति मछली का खोल चढा हुआ था, जिसमे से वह पूर्ण विकसित होने पर निकला।[2]

प्लेटो के विचार

प्लेटो ने अरस्तू से पूर्व छितराये हुए जीव-संबंधी ज्ञान को, व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया था। किन्तु प्लेटो का दृष्टिकोण वैज्ञानिक न था।

१. देखिए, 'द हिस्ट्री ऑव बायोलॉजी', मूल लेखक, एरिक नार्डेन्स्किओल्ड, अनुवादक, लिओनार्ड बकनल आयर, केगन पॉल द्वारा प्रकाशित, १९२९ ई०, पृ० सं० ३७, पंक्ति ३२

२. देखिए, 'आउटलाइन्स ऑव द हिस्ट्री ऑव ग्रीक फ़िलॉसफ़ी', लेखक, जेलर, १३वाँ संस्करण, पृ० सं० २९, पंक्ति २८

वह अपने देश की प्राचीन धार्मिक परंपराओं के तार्किक रूपों का विकास करने में लगा हुआ था। इसी लिए, एनेक्ज़ीमैंडर के मछली से मनुष्य की उत्पत्ति के विचार के विरुद्ध प्लेटो ने घोषणा की कि मनुष्य पृथ्वी पर उत्पन्न होनेवाला पहला प्राणी है। पेड़-पौधे मनुष्य को भोजन देने के लिए उत्पन्न हुए। अन्य जीवों की उत्पत्ति मनुष्य के पतन से हुई। मनुष्य को ही पहले-पहल बुद्धि मिली थी। जब उसने अपनी बुद्धि का उचित प्रयोग न किया तो उसे अन्य योनियों में भ्रमण करना पड़ा। इनमें से पशु-पक्षियों के शरीर तो फिर भी अच्छे है। जल-जन्तु उन्हें होना पड़ा जिन्होंने बहुत ही गर्हित कर्म किये थे, जिससे वे श्वास भी सुखपूर्वक न ले सकें। प्लेटो का मत विकासवाद से उलटा है। एनेक्ज़ीमैंडर का कथन तो फिर भी उक्तवाद के बहुत समीप था।

प्लेटो के प्रत्ययवाद (Theory of Ideas) से अरस्तू को जीव-विज्ञान के अध्ययन में अवश्य कुछ सहायता मिली थी। प्रत्ययवाद में यह कहा गया था कि इस जगत् की सभी वस्तुओं की उत्पत्ति उनके शाश्वत प्रत्ययों से हुई है। जैसे घोड़े की उत्पत्ति किसी अन्य पशु से नहीं हुई है, बल्कि घोड़े का पूर्ण प्रत्यय, जो प्रत्ययों के जगत् में सर्वदा स्थित रहता है, सभी अपूर्ण घोड़ों की उत्पत्ति का कारण है। इस विचार में जीव-जातियों के अनुसंधान का संकेत है।

प्रत्ययवाद में एक संकेत और था। प्लेटो ने कहा था कि किसी भी जाति का प्रत्येक व्यक्ति अपूर्ण है। किन्तु सभी अपूर्ण उदाहरणों में प्रत्यय की पूर्णता प्राप्त करने के भिन्न-भिन्न, व्यक्तिगत प्रयत्न दिखाई देते हैं। विकासवाद (Theory of Evolution) का सारभूत विचार इस कथन में वर्त्तमान है। जब हम सोचते हैं कि किसी दी हुई जाति के जीवों में सामर्थ्य-भेद क्यों है, तो हमें या तो यह कल्पना करनी पड़ती है कि उस जाति की जीवन-संबंधी समस्याओं को हल करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति ने धीरे-धीरे कम विकसित व्यक्तियों से अधिक विकसित व्यक्तियों का विकास किया है, या यह कल्पना करनी पड़ती है कि विकास की प्रवृत्ति किसी जाति-विशेष में न होकर, किसी उससे बाह्य अस्तित्व में पायी जाती है। किसी भी प्रकार, बिना किसी आंतरिक अथवा बाह्य प्रेरक की के समभव नहीं होता

इसी दृष्टि से प्लेटो के प्रत्यय-सिद्धान्त मे विकासवाद का सकेत मानना पडेगा। उनके प्रत्यय बाह्य प्रेरक है, जो प्रत्येक जीव-जाति में पूर्णता प्राप्त करने की होड पैदा करते है।

अरस्तू के सुधार

अरस्तू का जीव-विज्ञान के क्षेत्र मे अधिक सम्मान इसी लिए हुआ कि उसने प्लेटो के अवास्तविक चितन के सकेतों को समझकर, उन्हे वास्तविक रूप देने का प्रयत्न किया। प्लेटो ने सख्या मे जीव-जातियों के बराबर प्रत्ययों की कल्पना की थी। उसके इस विचार मे बहु प्रयोजन-वाद (Pluralistic theory of Purpose) का सकेत था। प्लेटो के प्रत्यय वस्तुओ से बाह्य होने से, उसके प्रत्ययवाद मे बाह्य-प्रयोजनवाद (Theory of purpose as External, Transcendental theory of purpose) का भी सकेत था। अरस्तू ने प्लेटो के असख्य प्रत्ययो के स्थान पर एक प्रकृति की कल्पना कर एक-प्रयोजनवाद (Monistic theory of purpose) की स्थापना की। साथ ही, वस्तुओं की प्रकृति, उनसे बाह्य न होने के कारण, अरस्तू की प्रकृति-सम्बन्धी कल्पना मे प्लेटो के बाह्य-प्रयोजनवाद का खडन हो गया और उसके स्थान पर आंतरिक प्रयोजनवाद (Immanental Theory of purpose) की स्थापना हो गयी। अरस्तू की यह नवीन चितन-पद्धति उसके विकासवाद तथा प्रकृतिवाद के अध्ययन से स्पष्ट होती है।

अरस्तू का प्रकृतिवाद (Philosply of Nature)

अरस्तू ने 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग बहुत ही व्यापक अर्थ में किया है। अपनी 'तत्त्व-विद्या' मे, उसने अपने पारिभाषिक शब्दो का एक कोश दिया है, जिसमे उसने 'प्रकृति' के पॉच मूल अर्थ बताये है तथा एक विकसित अर्थ। ये अर्थ इस प्रकार है'[1]—

(१) वर्द्धमान वस्तुओं की सृष्टि; (२) वृद्धि का मूल तथा 'व्याप्त कारण', (Immanent cause) जो वस्तु मे वर्त्तमान रहता है; (३) वस्तु

१. मेटाफ़िज़िका, पृ० १४ बी, १५–१०१५ ए, ५

की प्रथम गति का सारभूत कारण; (४) वस्तु को उत्पन्न करनेवाली मूल प्रकृति; (५) निर्मित वस्तु की आकृति तथा (६) विकसित अर्थ में वस्तुओ का किसी भी प्रकार का स्वभाव।

ऊपर दिये हुए अर्थो को ध्यान मे रखते हुए, यदि हम अरस्तू के कारण-वाद का स्मरण करें, तो देखेगे कि 'प्रकृति' के पाँच अर्थो मे से चार वे ही है, जो 'भौतिकी'[1] और 'तत्त्व-विद्या'[2] मे चार कारणों के रूप मे गिनाये गये है। मूर्त्ति की 'आकृति' मूर्त्ति के निर्माण का एक कारण है, क्योकि बिना किसी आकार की कल्पना के, मूर्त्तिकार किसी काँसे, पत्थर आदि उपादान को मूर्त्ति में नहीं बदल सकता। यही आकार अथवा आकृति ऊपर दिये हुए प्रकृति के अर्थो में से पाँचवाँ है। किन्तु काँसे या पत्थर के अभाव मे, मूर्त्तिकार द्वारा अभिप्रेत आकार को कौन ग्रहण कर सकता है। इसलिए उपादान अथवा आवश्यक सामग्री के रूप मे काँसा, पत्थर आदि भी मूर्त्ति के निर्माण मे कारण हैं। यह ऊपर के अर्थो में प्रकृति का चौथा अर्थ है। मूर्त्ति के निर्माण के लिए तीसरा आवश्यक कारण, मूल सामग्री मे गति उत्पन्न करनेवाला 'प्रेरक' है, जो स्वय मूर्त्तिकार है। यह प्रकृति का तीसरा अर्थ है। मूर्त्ति का चौथा कारण, मूर्त्ति के निर्माण का उद्देश्य है। यही प्रकृति का दूसरा अर्थ है।

इस प्रकार, अरस्तू के मत मे, किसी वस्तु की उत्पत्ति के चारो अनिवार्य कारणो का उसकी प्रकृति में ही समाहार हो जाता है। किन्तु प्रकृति किसी वस्तु-विशेष तक सीमित नही है। इसी लिए, वह पूरे जगत् की वस्तु-समष्टि को प्रकृति मानता है। यही ऊपर दिया हुआ प्रकृति का पहला अर्थ है।

अरस्तू की जीव-विज्ञान-सम्बन्धी पुस्तको में, प्रकृति का समष्टि-बोधक अर्थ ही प्रधान रूप से मिलता है। डी जेनरेशनी एनीमैलियम[3] मे जीवो की उत्पत्ति के विषय मे, यह बतलाते हुए कि जीवों की जातियाँ, एक ही जाति

१. फ़िज़िका, २, ३, १९४ बी, २३
२. मेटाफ़िज़िका, १०१३ ए, २४-३५
३. डब्ल्यू० डी० रॉस के संकलन के पाँचवे भाग में

के नर और मादा मे मैथुन सभव होने के कारण सीमित रहती है, वह कहता है कि प्रकृति 'असीम' की अवस्था से दूर भागती रहती है, क्योंकि 'असीम' पूर्ण नही होता और प्रकृति का उद्देश्य, सदैव किसी न किसी लक्ष्य को प्राप्त करने का रहता है।'[1]

इसी प्रकार, डी पार्टिबस नामक पुस्तक मे जीवो के अगो के विषय मे बताते हुए वह कहता है कि 'प्रकृति' एक अग से जो लेती है, वही दूसरे अग को दे देती है।[2] इन कथनो से ऐसा प्रतीत होता है कि 'प्रकृति' वस्तु मे बाहर की कोई सत्ता है, जो 'असीम' से दूर भागती है, जिसका 'किसी लक्ष्य को प्राप्त करने का उद्देश्य' होता है और जो 'एक अग से कुछ लेती है और दूसरे को कुछ देती है'। पर ऐसी बात नही है। ऊपर दिखाया जा चुका है कि अरस्तू ने उन कारणो को एक साथ प्रकृति कहा है, जो वस्तुओ के स्वभाव मे व्याप्त रहकर, उन्हे विकसित करते है। उक्त अर्थ में, प्रकृति को किसी दी हुई वस्तु में सीमित नही माना जा सकता। इसी लिए अरस्तू उसे 'इस' वस्तु या 'उस' वस्तु से विस्तृत मानता है और साथ ही, उसे वस्तुओं मे व्याप्त, आन्तरिक कारण तथा विकास का माध्यम मानता है।

विकास की प्रक्रिया

अरस्तू की बतायी हुई विकास की प्रक्रिया को समझने के लिए, उसके कारणवाद को प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होनेवाली वस्तुओ, पशु-पक्षियो, मनुष्य आदि सभी पर घटित करने की आवश्यकता है। उसका मूर्त्ति का उदाहरण कला के क्षेत्र से लिया हुआ है, किन्तु कला और प्रकृति में, साम्य होते हुए भी, तादात्म्य (Identity) नहीं है। मूर्त्ति के निर्माण मे और बीज से वृक्ष के उत्पन्न होने मे नवीन वस्तु की उत्पत्ति की दृष्टि से साम्य है, किन्तु कई आवश्यक अन्तर है। मूर्त्ति के निर्माण में, निर्मित होनेवाली वस्तु अथवा मूर्त्ति की आकृति मूर्त्तिकार के मन मे रहती है। मूल सामग्री मे गति उत्पन्न

१. जेन० एनी०, १, १, ७१५ बी, १५
२ डी पार्टिबस २, १४ ६५८ ए, ३५

करनेवाला भी मूर्त्तिकार ही है। अतएव दो कारण, कला के द्वारा निर्मित की जानेवाली वस्तु से बाहर रहते हैं। कांसे या पत्थर-जैसी कला की सामग्री मे केवल दो ही कारण पाये जाते हैं। ये उपादान (Material Cause) और अन्तिम लक्ष्य हैं। उपादान मूर्त्ति मे परिणत होनेवाली सामग्री ही है और अन्तिम लक्ष्य मूर्त्ति है, जो मूल सामग्री का ही परिवर्तित रूप है।

इसके विपरीत, वृक्ष को उत्पन्न करनेवाले चार कारणो मे से एक भी बीज से बाहर नही रहता। इनमें से गति के स्रोत अथवा निमित्त कारण का तथा अन्तिम लक्ष्य, अथवा विकसित वस्तु के अन्तिम रूप का 'आकृति' में ही समाहार हो जाता है। केवल एक कारण बचता है—वृक्ष को उत्पन्न करनेवाली सामग्री। यह बीज मे सुरक्षित 'उत्पादक पदार्थ' (Productive Matter) है, जिसमे एक विशिष्ट जाति का वृक्ष उत्पन्न करने की सामर्थ्य (Capacity) होती है, किन्तु पूर्ण विकसित वृक्ष उस स्थूल पदार्थ मे नही रहता। यदि ऐसा होता तो विकास में समय न लगता। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि विकसित वृक्ष मे जितना पदार्थ रहता है उतना बीज में कहाँ रहता है? इन दोनो निरीक्षणो से अरस्तू ने दो निष्कर्ष प्राप्त किये। वृक्ष का उपादान बीज मे सीमित पदार्थ नही, बल्कि बीज मे व्याप्त 'प्रकृति' है। इसी 'प्रकृति' में वृक्ष के विकास की सामर्थ्य होती है, किन्तु 'प्रकृति' और 'आकृति' में तादात्म्य मानना युक्तियुक्त नही है, क्योकि 'प्रकृति' और 'आकृति' के संयोग से वृक्ष का विकास होना है और इस क्रिया मे समय का व्यवधान सुनिरोक्षित है।

अरस्तू भली-भाँति जानता था कि पूर्ण विकसित वस्तु की 'आकृति' को उसकी मूलभूत प्रकृति से अलग नही किया जा सकता, किन्तु, दोनो को एक मानकर, विकास की प्रक्रिया को, जो समय मे घटित होती है, समझाया भी तो नही जा सकता। इसीलिए, दोनों को अविच्छेद्य (Inseparable) मानते हुए भी, अरस्तू 'प्रकृति' और 'आकृति' के विचारो का विश्लेषण करता है। इन दोनों के अंतर का बोध कराने के लिए वह कहता है कि 'प्रकृति' केवल सामर्थ्य है, 'वास्तविकता' पूर्ण विकसित वस्तु है।[1] अरस्तू के इस

१. डी एनिमा, ४१२ ए, १०

कथन से, उसका विकास-वाद समझने के निमित्त, 'प्रकृति और आकृति' (Matter & Form) तथा 'सामर्थ्य और वास्तविकता' (Potentiality & Actuality) के पारस्परिक सम्बन्धो को जानना नितान्त आवश्यक हो जाता है। यह विषय अरस्तू के दर्शन मे भी आया है, इसलिए यहा पर 'प्रकृति' और 'आकृति' के अर्थो को ही जान लेना उपयुक्त है।

प्रकृति और आकृति

अरस्तू ने 'तत्त्व-विद्या' मे 'प्रकृति' की चार विशेपताएँ बतलायी है—(१) इसकी कोई शक्ल नही होती, (२) यह 'होने' और 'न होने' की क्षमता रखती है; (३) इसका स्वभाव ग्राहक होता है और (४) यह केवल 'सामर्थ्य' है, जिसे अंग्रेजी में 'पोटेसी' शब्द से व्यक्त किया जाता है।

'आकृति' की विशेषताएँ, 'प्रकृति' की विशेपताओं के विपरीत बतायी गयी है। (१) 'आकृति' मे शक्ल होती है; (२) यह 'होने' और 'न होने' के बीच मे न रह कर, 'प्रकृति' को 'ऐसापन' देती है, (३) यह 'प्रकृति' को प्रभावित करती है और (४) उसे 'वास्तविकता' प्रदान करती है।

इस विचार का अरस्तू ने सभी विज्ञानो मे प्रयोग किया है, विशेष रूप से जीव-विज्ञान मे। प्रकृति और आकृति के ही संयोग से जीवधारियो की उत्पत्ति होती है। इस बात को उन जीवधारियो के उदाहरणो से समझाया गया है, जिनमें स्त्री और पुरुष का भेद होता है। स्त्री के 'रज' और पुरुष के 'वीर्य' से भ्रूण (Embryo) का विकास होता है। अरस्तू स्त्री के 'रज' को 'प्रकृति' मानता है और पुरुष के 'वीर्य' को गति का प्रथम कारण, निमित्त कारण तथा आकृति कहता है।[१] वह इस सिद्धान्त को संपूर्ण जीव-जगत् मे व्याप्त मानता था। जीवो की उत्पत्ति पर लिखी हुई उपर्युक्त पुस्तक मे, उसने अपने इस सिद्धान्त को उन जीवधारियो पर भी घटित किया है, जिनमे एक ही जन्तु से नवीन जन्तु की उत्पत्ति होती है। जन्तुओ मे ही नही, उसने अपने सिद्धान्त की व्यापकता वनस्पति-जगत् मे भी दिखलायी है। उसका

१ जेन० एनी०. ७३२ ए, ७: ७६२ बी. २

कथन है कि जन्तुओ तथा वनस्पतियो में, जहाँ कही भी स्त्री-पुरुष का भेद वर्त्तमान नही है, वहाँ स्त्री-जन्तु मे ही दोनो अवयव विद्यमान रहते है।[1] पर इतने से ही अरस्तू का 'प्रकृति-आकृति' का विचार पूर्ण नही हो जाता।

'प्रकृति' और 'आकृति' का भेद बीज और वृक्ष तक तथा रज और वीर्य तक ही सीमित नही है। वह इस भेद को गति और वृद्धि के साथ लगा हुआ समझता था।[2] उसके अर्थ मे, 'प्रकृति' और 'आकृति' का अंतर, विकासक्रम मे, पूर्व और उत्तर का अतर है। भ्रूण और शिशु की तुलना मे भ्रूण 'प्रकृति' है और शिशु 'आकृति' है। बालक और वयस्क की तुलना मे बालक 'प्रकृति' है और वयस्क 'आकृति' है। इसी प्रकार, वर्द्धमान वृक्ष, छोटे से बड़ा होने के कारण, विकास के प्रत्येक स्तर पर, अगली अवस्था की प्रकृति वनता जाता है, जब तक वह पूर्ण विकास नही प्राप्त कर लेता। इसी भेद को दृष्टि मे रखकर अरस्तू ने सपूर्ण जीव-जगत् को विभिन्न श्रेणियो और वर्गो मे बाटने का प्रयास किया था। यही उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसके लिए आधुनिक जीव-वैज्ञानिको[3] तक ने उसकी प्रशंसा की है।

जीवो के श्रेणी-विभाग

ऊपर अरस्तू के प्रकृति और आकृति-सवधी, अथवा सामर्थ्य और वास्त-विकता-संबधी चितन के दो स्तरो की ओर सकेत किया गया है। पहले, उसने किसी दिये हुए पदार्थ से किसी नवीन वस्तु की उत्पत्ति पर विचारकर यह निर्णय किया कि आकारहीन पदार्थ से आकारवान् वस्तु की उत्पत्ति का कारण प्रकृति और आकृति का सयोग है। फिर, उसने इस बात पर विचार किया कि प्रकृति मे वस्तु तो रहती नही है। उत्पन्न कैसे हो जाती है? इस चितन से, उसे प्रकृति और आकृति मे सामर्थ्य और वास्तविकता का सबध दिखाई दिया। अब उसने वृद्धि और विकास का कारण पा लिया। क्रम

१. जेन० एनी०, ७६२ बी, ९
२. मेटाफ़िज़िका, १०४७ ए, ३०
३. एरिक नॉर्डेन्स्किओल्ड : हिस्ट्री ऑव बायोलॉजी, अंग्रेजी अनुवाद

हैं। स्पर्श की शक्ति पशुमात्र मे होती है, किन्तु सवेद तो और भी कई प्रकार के होते है जिनका विकास की प्रगति के साथ-साथ क्रमिक अर्जन होता ह। इसी लिए उन्नत पशुओ मे एक से अधिक सवेदो की शक्ति पायी जाती ह। आत्मा के इस धर्म के अतिरिक्त पशुओ की कुछ जातियाँ गमन भी करती ह। इसके भी अनेक प्रकार होते हैं, जिनके अनुसार पशुओ को वर्गो, जातियो तथा उपजातियो में विभाजित किया जा सकता है। प्राणियो मे मनुष्य सबसे बडा है, क्योंकि उसमे, ऊपर बतायी हुई आत्मा की शक्तियो के अतिरिक्त, विचार-शक्ति भी होती है।

अरस्तू के उपर्युक्त विवेचन से जीव-वैज्ञानिक अध्ययन के लिए एक बहुत उपयोगी सुझाव यह मिला कि सपूर्ण प्राणि-जगत् को एक परिवार मानकर, उनका, सामर्थ्य-भेद के अनुसार, अध्ययन किया जा सकता है। दूसरा सुझाव यह मिला कि प्राणियो का वर्गीकरण उनके जीवनीय व्यापारो के आधार पर किया जा सकता है, किन्तु उन व्यापारो का अगो से अनिवार्य सबध है। इस प्रकार, वर्गीकरण के निमित्त अगो की रचना एवं उनके व्यापारो के रूप मे दो आधार प्राप्त हो जाते है।

जंतुओं के वर्गीकरण के नियम

जतुओं के वर्गीरकण मे अरस्तू ने तीन नियमो का पालन करना आवश्यक समझा—(१) जतुओ के किसी भी समूह को एक से अधिक वर्गो में नही होना चाहिए ; (२) कई समूहो को एक ही वर्ग मे नही होना चाहिए और (३) प्रत्येक समूह को किसी न किसी वर्ग मे अवश्य होना चाहिए।[१] वर्गीकरण की इन आवश्यकताओ को तभी पूरा किया जा सकता है, जब पूरे जतु-परिवार को विभिन्न समूहों मे इस प्रकार बाँटा जा सके कि एक समूह मे रखे जानेवाले सभी जंतुओं मे लगभग एक-सी शरीर-रचना (Anatomical stiucture) हो और एक दूसरे समूह के बीच में ऐसे अतर हो जिनसे उन्हे एक दूसरे से अलग किया जा सके।[२] जैसे, एक समूह पक्षियो का और

१. डी एनिमा, २, ३, ४१४ बी, १
२. डी पार्टिबस, १, ४, ६४४ ए, १७

दूसरा मछलियों का हो सकता है, क्योंकि सभी पक्षियों में लगभग एक सी बनावट होती है, अंतर केवल विकास के स्तरों के ही हो सकते हैं। किसी के पंख छोटे और किसी के बड़े हो सकते हैं, जैसे मोर के। किसी की टाँगें लम्बी हो सकती हैं, जैसे शुतुर्मुर्ग की। कठफोड़े की चोंच कितनी पतली और बतख की कितनी चौड़ी होती है। पर पक्षियों को मछली नहीं समझा जा सकता। दोनों में समान व्यापार होते हैं, पर उन व्यापारों के साधक अंगों की बनावट भिन्न होती है[1]। इस प्रकार, अरस्तू ने जंतुओं के वर्गीकरण के लिए शरीर-रचना का अध्ययन तथा अंगों और उनके द्वारा होनेवाले व्यापारों के पारस्परिक संबंधों के अध्ययन की ओर संकेत किया।

द्विविध-विभाजन-शैली (Dichotomous Division) की आलोचना[2]

इन विचारों के अनुरूप, अरस्तू ने अपने समय में प्रचलित प्लेटो की द्विविध-विभाजन-शैली को त्रुटिपूर्ण बतलाया। उक्त शैली में पूरे विभाज्य जंतु-परिवार को, दो समूहों में विभाजित किया जाता था, फिर उनको दो उपसमूहों में विभाजित किया जाता था। यह क्रम तब तक चलता रहता था, जब तक अन्तिम विभाग अविभाज्य न हो जाये। इस शैली में विभाज्य के दो भाग इस प्रकार किये जाते थे कि एक भाग किसी विशेषता की और दूसरा उसके अभाव (Absence) की सूचना देता था। जैसे, पशुओं का पंखवालों और बिना पंखवालों में विभाजन।

अरस्तू ने बतलाया कि इस विभाजन में एक शाखा आदि से अंत तक अभाव-सूचक पदों के द्वारा बनती रहती है। अभावों के विभाग तो किये ही नहीं जा सकते, इसलिए मूल विभाज्य का बहुत-सा भाग अविभाजित ही

१. डी पार्टिबस, १, ४, ६४४ ए, २०-२५
२. प्लेटो की द्विविध-शैली डाइकॉटोमी की आलोचना के लिए, देखिए, डी पार्टिबस एनीमेलियम, ६४२ बी, २१, २५; ६४३ ए, ५, २५; ६४२ ए, १०

रह जाता है। जंतुओ को वर्गों, उपवर्गों तथा जातियो में बाँटने के लिए ऐसे व्यावर्त्तक गुणों (डिफ़रेंशिया Differentia) की आवश्यकता है, जो विभाज्य हों। दूसरी बात यह है कि व्यावर्त्तक गुण ऐसे होने चाहिए जो विभाजित जन्तु-जातियों की सारभूत विशेषताओं को बता सकें। किसी एक व्यावर्त्तक के लिए यह संभव नही कि वह किसी पूरी जाति की मुख्य विशेषताओं को स्पष्ट कर दे। इसलिए एक व्यावर्त्तक से काम नहीं चल सकता। इस शैली में तीसरा दुर्गुण यह है कि यह प्रत्येक समूह को दो उपसमूहों मे बाँटती है। यह आवश्यक नहीं है कि किसी प्राकृतिक जन्तु-समूह मे दो ही उपसमूह हों। पक्षियों मे, सामान्य आकृति एक रहते हुए भी, छोटे-मोटे अंतरो के कारण, कितने ही उपविभाग सभव हैं। इस प्रकार, अरस्तू ने यह निश्चय किया कि जन्तुओं के विभाजन में द्विविध शैली के स्थान पर 'बहुविध विभाजन-शैली' (Method of Multiple Division) का प्रयोग करना चाहिए[1]।

जंतुओं के वर्गों की पहचान

अरस्तू ने जन्तु-परिवार को पहले बडे-बडे समूहो मे, फिर उन समूहो को उपसमूहों में, और उपसमूहो को जातियो मे बाँटने की सम्मति दी थी। उसने अपने निरीक्षण से मालूम किया था कि प्रकृति ने जंतुओं को बडे-बडे समूहों में बाँट रखा है। इन समूहो में जतुओ के पूरे शरीर का आकार लगभग एक-सा होता है। इसलिए आकारी (मार्फालॉजी) (Morphology) तथा अंगों की रचना के अध्ययन से इन प्राकृतिक समूहो को पहचाना जा सकता है[2]।

विभिन्न प्राकृतिक समूहो को एक दूसरे से अलग करने के लिए शरीर के अगो और उनके व्यापारो के पारस्परिक संबधो का अध्ययन करने की आवश्यकता है। समस्त जतु-जगत के व्यापारगत (Behavoucal) उद्देश्य एक-से है। भोजन की सबको आवश्यकता है, सभी अपनी जाति की वृद्धि करते

१. डी पार्टिबस, १, ३, ६४३—बी, ३०
२. डी पार्टिबस, १, ४, ६४४—बी, १०

है और सभी सोते,जागते, चलते-फिरते है । पर, इन उद्देश्यो की पूर्ति विभिन्न प्राकृतिक समूहों मे विविध प्रकार से होती है । इन्ही भेदो के कारण, विभिन्न समूहो के व्यापारो मे उद्देश्यगत एकता होने पर भी उनके साधक अगो की रचना भिन्न होती है । इस प्रकार, तुलनात्मक शरीर-रचना-शास्त्र के विकास से जन्तुओ के प्राकृतिक समूहो को एक दूसरे से अलग करने के निमित्त ज्ञातव्य तथ्यो को एकत्र किया जा सकता है ।

इन समूहो का उपसमूहो मे विभाजन भी प्रकृति ने ही कर रखा है। इनमे, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, आकृति का भेद नही होता । अंतर केवल विकास की मात्रा का होता है । उपसमूहो के अध्ययन से समूह की सामान्य विशेषताओ (General Characteristics) को जाना जा सकता है । इन समूहो के अंतर्गत विशिष्ट प्रकार के जन्तु मिलते है, जिन्हे विभाजित नही किया जा सकता । इनकी विशेषताएँ अलग-अलग अध्ययन के ही द्वारा जानी जा सकती है ।

अरस्तू ने अपने वर्गीकरण का कही भी संक्षेप नही किया । 'डी पार्टिबस' और 'हिस्टोरिया एनिमैलियम' में अरस्तू ने प्रसंगत जो भेद किये थे, उनके आधार पर रॉस[1] ने एक वर्गीकरण दिया है, जिसको अन्य लेखको[2] ने भी उद्धृत किया है । पर, अरस्तू का वर्गीकरण अब उतना आवश्यक नही रह गया है । उसकी विधि का अनुसरण कर, १८वी शताब्दी में स्वीडन के जीव-वैज्ञानिक, लिनियस, ने जतुओ का जो वर्गीकरण किया था, उसी से लाभ उठाकर १९वी शताब्दी मे डारविन ने जीव-विज्ञान के अध्ययन को आधुनिक रूप दिया । अरस्तू के ही सकेतो से लाभ उठाकर, १८वी शताब्दी के फ्रासीसी जीव-वैज्ञानिक, क्यूवियर ने तुलनात्मक शरीर-रचना-शास्त्र (Comparative Anatomy) की स्थापना की । अरस्तू के वर्गीकरण-संबधी विवेचन का हमारे लिए इसी रूप में महत्त्व है ।

१. डब्ल्यू० डी० रॉस : एरिस्टॉटल्, पृ० सं० ११७
२. जी० आर० जी० म्योर : एरिस्टॉटल, पृ० सं० १२५

जीवों की जाति–वृद्धि

अरस्तू का एक ओर विवेचन काफी लाभप्रद सिद्ध हुआ है। यह जीवो की जातिवृद्धि (रिप्रोडक्शन) का विवेचन है। वह जीवो की जातिवृद्धि तीन प्रकार से संभव मानता था। कुछ प्राणी सड़नेवाली वस्तुओं से उत्पन्न हो जाते है। इस प्रक्रिया को वह 'सहज उत्पत्ति', '(स्पॉन्टेनियस जेनरेशन) कहता है। इस प्रकार से उत्पन्न प्राणियो मे नर और मादा का कुछ भेद नही होता। वृद्धि की दूसरी विधि कुछ छोटे-छोटे जल-जतुओ में पायी जाती है, जिसमे नर और मादा के सम्मिलन के बिना, एक ही जतु से नवीन जतु की उत्पत्ति हो जाती है। इन दोनो विधियो[1] का उल्लेख मात्र किया गया है, विस्तृत विवेचन नही।

तीसरी विधि मे, दो जतुओ के सयोग से तीसरे जंतु की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार की जातिवृद्धि अथवा संतानोत्पादन-प्रणाली का अरस्तू ने विस्तार-पूर्वक विवेचन किया है। अरस्तू के विवेचन से मालूम होता है कि उसके मस्तिष्क मे मानवीय स्त्री-पुरुषो के ही उदाहरण थे। इसीलिए इस विवेचन मे सतान की आकृति के, माता-पिता के अतिरिक्त, पितामह आदि पुरखों की आकृति से मिलने के कारणो पर विचार किया गया है। उसके विवेचन का यही सबसे आवश्यक भाग है, क्योंकि इसमे वंशानुक्रम (हेरिडिटी) की समस्या का उद्घाटन हुआ है। अन्य सबद्ध समस्याओ मे से अरस्तू ने (१) सतानोत्पादन में स्त्री-पुरुष के सहयोग, (२) रज और वीर्य के गुणो तथा (३) भ्रूण में जाति-भेद के विकास पर विस्तृत विचार किया है। ये तीनों विवेचन विज्ञान की दृष्टि से बहुत उपयोगी नही मालूम होते, क्योंकि इनमे अरस्तू का चितन बहुत कुछ सामान्य सामयिक कल्पनाओ पर तथा उसके प्रकृति और

१. दो प्रकार की अमैथुनीय उत्पत्ति के प्रसंग में, देखिए—डी जेनरेशनी एनीमैलियम, १, १, ७१५ ए, २०-२५; ७१५ बी, ५, २६; १, १६, ७२१ ए, १०; १, १८, ७२४ बी, १० २,५, ७४१ ए, ३१-७४१ बी, १; ३, ११, ७६१ बी, २४-७६२ ए, १०

आकृति के सिद्धान्त पर निर्भर है। फिर भी, क्रमिक विचार की दृष्टि से, इस पर संक्षिप्त रूप में दृष्टि डाल देना उचित होगा।

स्त्री–पुरुष का सहयोग

अरस्तू पुरुषों को स्वभावतः स्त्रियों की अपेक्षा गर्म मानता था। इसीलिए वह समझता था कि पुरुष के शरीर में रक्त का पूर्ण परिपाक होने से वीर्य की उत्पत्ति होती है। स्त्रियों का स्वभाव शीतल होने से उनके शरीर में रक्त का अपूर्ण परिपाक होता है और वे वीर्य के समान अपने शरीर के उत्पादक पदार्थ को परिपक्व नहीं कर पाती हैं। उसके ये विचार सामान्य निरीक्षण पर निर्भर थे। उसने निरीक्षण किया था कि प्रतिमास स्त्रियों के शरीर से बहुत-सा रक्त स्रवित होता है, जब कि पुरुष के वीर्य का पात बहुत ही कम होता है। बेचारा अरस्तू यह न जानता था कि स्त्रियों के शरीर में, उस रक्त के अतिरिक्त जो प्रतिमास प्रकृति निकाल बाहर करती है, और भी कोई चीज होती है जो भ्रूण का विकास करती है। इसलिए उसने समझा था कि उसी स्रवित रक्त के अवशिष्ट भाग में पुरुष के वीर्य के मिलने से भ्रूण की उत्पत्ति होती है। स्त्री-पुरुष के सहयोग से ये दोनों पदार्थ इकट्ठे हो जाते हैं।[1]

रज और वीर्य के गुण

उपर्युक्त विचारों के ही आधार पर उसने स्त्री के रज को भ्रूण की प्रकृति और पुरुष के वीर्य को आकृति एवं भ्रूण की उत्पत्ति का निमित्त माना था।[2] अरस्तू यह तो सोच न सकता था कि बिना प्रकृति और आकृति के संयोग के किसी प्रकार की उत्पत्ति हो सकती है। भ्रूण की उत्पत्ति में रज और वीर्य के अतिरिक्त कोई तीसरा तत्त्व सम्मिलित नहीं होता। इसलिए इन्हीं में से एक प्रकृति और दूसरा आकृति हो सकता है। किन्तु प्रकृति स्थूल और आकृति सूक्ष्म होती है। इसीलिए उसने पुरुष-रक्त के परिपक्व सार को आकृति और स्त्री के अपरिपक्व रक्त को प्रकृति स्थिर किया था। इसी विचार

१. डी जेन० एनी०, ७२४–ए, १६; ७२७ ए, २; ७२७ बी, ३०
१. डी जेन० एनी०, ७२९–ए, १०

के सामंजस्य में उसने भ्रूण की उत्पत्ति मे वीर्य को बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपे थे। वीर्य में आत्मा की सवेदन-शक्ति निहित रहती है।[१] उसी मे गति का स्रोत होता है।[२] वही भ्रूण का परिपाक करता है।[३] स्त्री का रज तो निष्क्रिय होता है।[४] वह केवल वीर्य के सक्रिय प्रभाव के कारण भ्रूण के शरीर मे बदल जाता है।

इसके बाद अरस्तू भ्रूण मे अगो के विकास का विवरण भी देता है, किन्तु उसके विवरण में एक ही बात ज्ञातव्य है। प्लेटो ने मनुष्य के शिर को समस्त अंगों से आवश्यक समझा था। अरस्तू हृदय को प्रधानता देता है। उसके विचार से वही सबसे पहले विकसित होता है और उसी मे सवेदनो का केन्द्र होता है।[५] इस प्रसग में प्लेटो का विचार वास्तविकता के अधिक समीप था।

स्त्री-पुरुष का भेद-विकास

स्त्री-पुरुषो के भेद के विकास के संबध मे भी वह कोई बहुत युक्ति-युक्त बात नही कहता है। उसका विचार था कि पुरुष का स्वभाव उष्ण और स्त्री का शीतल होता है। इसी कल्पना के आधार पर उसने सोचा था कि उष्ण की प्रधानता होने पर गर्भस्थ शिशु में पुरुष के अंग और शीत की प्रधानता होने पर स्त्री के अंग विकसित हो जाते हैं। वह अगो का विकास स्वभाव के विकास पर निर्भर मानता था। इसलिए, प्रस्तुत समस्या का हल प्राप्त करने के लिए, उसे इतना ही सोचना शेष था कि भ्रूण का स्वभाव किन कारणो से उष्ण और किन से शीतल हो सकता है। वह वीर्य को उष्ण और रज को शीतल मानता ही था। इसलिए इन्ही में से एक अथवा दूसरे की प्रधानता को उसने उक्त भेद का कारण ठहराया। प्रमाण के रूप में, वह कहता है कि कम आयु वाले तथा वृद्ध पुरुषो

१. डी जेन० एनी०, ७३७ ए, २५; ७३८ बी, २५; ७४१ बी, ५
२. वही, ७२९ ए, २५; ७२९ बी, १०
३. वही, ७६६ बी, १०
४. वही, ७६५ बी, ६
५. वही, ७४३ बी, २५

के सहयोग से अधिकतर लड़कियाँ पैदा होती हैं। इन दोनों प्रकार के पुरुषों में उष्णता की कमी रहती है।[1]

जल-वायु के प्रभाव को भी वह उक्त भेद का गौण कारण मानता था। ठंडी हवाएँ चलने के समय धारण किये हुए गर्भ से लड़कियाँ और गर्म हवाएँ चलने के समय धारण किये हुए गर्भ से लड़के पैदा होते हैं।[2] जिन स्थानों का जल ठंडा होता है, वहाँ लड़कियाँ अधिक होती हैं।[3]

सादृश्य विचार[4]

इसी प्रसंग से यह समस्या भी संबद्ध है कि संतान माता से अथवा पिता से आकृति आदि में किन अवस्थाओं में समानता रखेगी। इसे तीन मुख्य रूपों में समझा जा सकता है—(१) किस दशा में लड़का पिता के सदृश होगा और लड़की माता के सदृश होगी, (२) किस दशा में लड़का माता के सदृश होगा और लड़की पिता के सदृश होगी और (३) लड़का अपने पितामह, अथवा अन्य किसी पितृपक्षीय पुरखे के समान आकृतिवाला किस दशा में होगा और लड़की माता की माता, अथवा अन्य किसी मातृपक्षीय पुरखे के समान किस दशा में होगी। अरस्तू ने अपने संतान के सादृश्य-संबंधी विचारों में प्रस्तुत समस्या के इन्हीं तीन रूपों पर ध्यान दिया है।

समस्या के पहले रूप पर वह अपने विचार स्त्री-पुरुष के भेद के विकास की व्याख्या में ही व्यक्त कर चुका था। संक्षेप में उसका कथन यह था कि भ्रूण के विकास में दो विरोधी तत्त्वों, प्रकृति और आकृति, में प्रतिक्रियात्मक संबंध स्थापित होता है। मातृभाग प्रकृति और पितृभाग आकृति होता है। सामान्यतः भ्रूण का विकास आकृति के अनुरूप होता है, क्योंकि आकृति ही गति-

१. डी जेन० एनी० ४, २, ७६६ बी, ३०
२. वही, ७६६ बी, ३५
३. वही, ७६७ ए, ३५
४. संतान की आकृति के निर्णय पर, देखिए, डी जेन० एनी०, ४, ३, ७६७ ए, ३० से ७६८ बी, २ तक

कारक निमित्त भी होता है, उसी में विकासवान् वस्तु की वास्तविकता निहित रहती है। प्रकृति में तो सामर्थ्य अथवा संभावनाएं होती हैं।

इस नियम से, स्त्री-पुरुष के संयोग से केवल पुरुष की उत्पत्ति स्वाभाविक है और उसकी आकृति पिता के समान होनी चाहिए, क्योंकि पिता का वीर्य संपूर्ण रक्त के पाक से उत्पन्न सार होता है। किन्तु इस प्रकार कुछ ही समय में स्त्रियों का पूर्ण अभाव हो सकता है। इस स्थिति के विरुद्ध प्रकृति ने प्रबंध किया है। प्रकृति और आकृति में प्रतिक्रिया होती है। जहाँ प्रतिक्रिया (Interaction) होती है, वहाँ कभी एक तत्त्व सबल सिद्ध होता है, कभी दूसरा। आकृतिपक्ष के सबल न होने पर ऊपर बतायी हुई अन्य स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। पर आकृति पक्ष के सबल न होने पर, उसमें किस प्रकार की निर्बलताएँ हो सकती हैं यह जानने के लिए अरस्तू के एक अन्य मत को जानने की आवश्यकता है।

वंशानुक्रम का संकेत

उसका कथन है कि संतानोत्पादन में व्यक्ति और वर्ग दोनों की विशेषताएँ काम करती हैं।[1] इस कथन का विस्तार करने पर अर्थ यह होगा कि संतानोत्पादन में सम्मिलित तत्त्वों में कम से कम तीन प्रकार की विशेषताएं रहती हैं। पितृभाग में पुरुषों की सामान्य विशेषताएँ, पिता-व्यक्ति की विशेषताएँ और उसके वंशवृक्ष के अन्य पुरुषों की विशेषताएँ रहेंगी। मातृभाग में स्त्रियों की सामान्य विशेषताएँ, माता-व्यक्ति की विशेषताएँ तथा मातृपक्षीय वंशवृक्ष की अन्य स्त्रियों की विशेषताएं रहेंगी।

अब, आकृति की निर्बलता के दो अर्थ हो सकते हैं—किसी अवयव की निर्बलता, अथवा पूर्ण निर्बलता। आंशिक निर्बलता का अर्थ शेष अवयवों की सबलता भी होगा। इस अन्तिम स्थिति में यदि पिता का केवल पुरुष-अंश सबल है, तो संतान बालक होगी, किन्तु उसका माता से सादृश्य होगा। यदि पिता का व्यक्ति-अंश सबल है, तो संतान बालिका होगी, पर उसका पिता से

१. डी जेन० एनी० ४, ३, ७६७ बी, ३१

सादृश्य होगा। इसी प्रकार, यदि पुरुष-अंश सबल बना रहे, किन्तु पिता के व्यक्तित्व की प्रधानता न होकर वश के किसी अन्य पूर्वज की प्रधानता रहे, तो बालक पिता के समान न हो कर उसी पूर्वज के समान होगा। आकृति-भाग प्रधान न होने पर प्रकृति-भाग की प्रधानता स्वाभाविक है। उस स्थिति मे माता के जिस अश की प्रधानता होगी, उसी की अनुकृति बालिका में आ जायेगी। माता का व्यक्तित्व प्रधान होगा तो अनुकृति माता की होगी। माता के द्वारा स्रवित पदार्थ मे मातृपक्षीय किसी अन्य स्त्री के गुणो की प्रधानता होने पर बालिका मे उसी की अनुकृति होगी।[1]

इस विवेचन के स्थूल अशो के लिए नही, बल्कि सामान्य नियम के लिए अरस्तू श्लाघनीय है। आधुनिक युग के कितना पहले उसने सूचना दे रखी थी कि सतानोत्पादन मे वर्ग की विशेषताएँ भी सम्मिलित होती है। जीव-वैज्ञानिक अरस्तू के सकेतो के लिए बहुत ऋणी है। उसी ने, पहले-पहल, जतुओ के जीवनवृत्त एकत्र किये थे। उसके 'हिस्टोरिया एनीमैलियम' नामक ग्रथ मे पाँच सौ से अधिक जतुओं के परिचय मिलते है। उन सबका यहाँ सक्षिप्त परिचय भी दे पाना कठिन है।

१. ऊपर के विवरणों पर देखिए, डी जन० एनी०, ४, ३, ७६८—ए, २८ से ३५ तक

अध्याय ७

मनोविज्ञान

जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान

अरस्तू के विवेचन के अनुसार मनोविज्ञान जीवविज्ञान का अंग है। पिछले अध्याय में हमने देखा था कि जीवन की आवश्यक शर्त शरीर से आत्मा का संबध है। यह सच है कि आत्मा को शरीर से अलग करके नही देखा जा सकता, पर यह उससे कम सच नही है कि निर्जीव शरीर उन क्रियाओं में से एक भी नही कर सकता, जिन्हे जीवित प्राणी करता है। इसीलिए अरस्तू ने आत्मा को शरीर की वास्तविकता, शरीर का निमित्त कारण, अन्तिम कारण, शरीर की गति का स्रोत आदि, कहा था। उन तमाम बातो को दुहराने से कोई लाभ नही; केवल इतना ही जान लेना चाहिए कि अरस्तू ने आत्मा के विभाग कर प्राणिमात्र की समस्त क्रियाओं को इन्ही विभागों के अंतर्गत रख दिया था। इन्ही क्रियाओं में से कुछ को शारीरिक और कुछ को मानसिक समझा जाता है। इस दृष्टि से जीवविज्ञान और मनोविज्ञान दोनो ही आत्मा के विभागो का अध्ययन करते है।

अरस्तू की पुस्तको मे दोनो अध्ययनों का घनिष्ठ सम्मिश्रण है। एक विभाग की क्रियाओं पर विचार करते हुए दूसरे विभाग की क्रियाओं की बात करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि जीवन के सामान्य स्पदन मे उच्चतम मानसिक क्रियाओं तक वह एक ही आत्मा की क्रमिक अभिव्यक्ति मानता था। किन्तु, इस क्रम में, उच्चतर अभिव्यक्तियो का निम्नतर अभिव्यक्तियों से साहचर्य रहता है। उदाहरण के लिए, किसी व्यवस्थित द्रव्य में, पोषण, वृद्धि और पुनरुत्पादन की चेष्टाएँ दिखाई देते ही आत्मा के प्रारंभिक स्वरूप की सूचना मिलती है। इससे उन्नत स्वरूप वह है जिसमें संवेदन भी होता है। किन्तु जहाँ संवेदन-शक्ति (Faculty of sensation) मिलती है, वहाँ

पोषण, वृद्धि आदि की शक्तियाँ भी रहती हैं। इसलिए उच्च स्तर की क्रियाओं का अध्ययन स्वतंत्र रूप से नहीं किया जा सकता।

उसने आत्मा के कहीं चार और कहीं पाँच विभागों के नाम गिनाये हैं। डी एनिमा के दूसरी पुस्तक के दूसरे अध्याय में वह पोषण, संवेदन, विचार तथा गमन[1] को आत्मा की चार मुख्य शक्तियाँ कहता है, किन्तु उसी पुस्तक के तीसरे अध्याय में आत्मा की शक्तियों की गणना करते हुए वह उन्हें पोषण, रुचि-कारक, संवेदकारक, गतिकारक और विचारोत्पादक बतलाता है।[2] कहीं-कहीं पोषण-क्रिया के साथ पुनरुत्पादन (Reproduction) को भी जोड़ देता है।[3] कभी रुचि और संवेद को सहचारी बताता है। इन सब बातों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि अरस्तू के मस्तिष्क में आत्मा के विभागों की कोई निश्चित योजना थी। वह छोटे से छोटे जीव की साधारण से साधारण क्रियाओं से लेकर मनुष्य की जटिल मानसिक क्रियाओं तक एक ही विकासक्रम की कल्पना कर रहा था।

आत्मा और शरीर

उसके चिंतन में 'त्रिभागीय मनोविज्ञान' का संकेत बिलकुल नहीं था। उसके आत्मा के विभाग शरीर से स्वतंत्र होकर कुछ नहीं कर सकते। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि बिना शरीर के आत्मा क्रोध, साहस, रुचि, संवेद आदि किसमें उत्पन्न करेगी।[4] किन्तु, इनमें से किसी भी परिवर्तन को वह शरीर की विशेषता नहीं मान सकता था, क्योंकि वह देखता था कि जीवित होने पर ही ये सब क्रियाएँ संभव हैं और जीवनीय तत्त्व को वह आत्मा कहता था।[5] अरस्तू के मत को ठीक-ठीक समझने के लिए यह स्मरण रखने की

१. डी एनिमा, २, २, ४१३ बी, १०
२. वही, २, ३, ४१४ ए, ३०
३. वही, २, ४, ४१६ ए, २०
४. वही, १, १, ४०३ ए, ५; ४०३ ए, १५
५. वही, ४१६ ए, १०

आवश्यकता है कि वह जल-वायु आदि पदार्थों के सघात (Collocation) से लेकर उच्चतम प्राणियो के विकास तक प्रकृति की एक ही योजना का विस्तार मानता था।

जीव के लक्षण उत्पन्न होने से पहले और बादवाले पदार्थ को मूलत' एक ही मान लेने पर यह मानना आवश्यक हो जाता है कि पदार्थ मे किसी नवीन धर्म के विकास से उसमें जीव के लक्षण उत्पन्न हो गये है। किन्तु इस नवीन सघात को दो अवयवो में बाँटा नही जा सकता, क्योकि दोनो का एक साथ होना ही उन लक्षणो के प्रकट होने का कारण है, जिन्हे देखकर पदार्थ को 'जीव' सज्ञा दी गयी है। अब इसी नवीन सघात का उत्थान होने पर, उसमे सवेद का प्रथम रूप, स्पर्श (Touch) अभिव्यक्त होगा और तब स्पर्शयुक्त जीवसघात मे अन्य सवेदो की शक्ति का विकास होगा। यहाँ तक कि चितनशील मनुष्य तक यह विकास-शृंखला बढती जायेगी। अरस्तू के इस चिंतन मे मनोभौतिक (Psycho-physical) प्राणी के विकास का रहस्य भरा हुआ है।[1] उसके आत्मा और शरीर संबधी चितन मे न तो विभागीय मनोविज्ञान का सकेत है और न दो अवयवो के सिद्धान्त का।[2] विकास के सभी स्तरो को एक साथ समेटकर रखने के कारण वह जीवनीय क्रियाओ को आत्मा के द्वारा अधिकृत मानता है और जीवित प्राणियो के विकासक्रम को टूटने न देने के ही अभिप्राय से विभिन्न स्तर की क्रियाओं को भिन्न-भिन्न विभागो मे बाँटता है।

संवेदन

अरस्तू के विवेचन के अनुसार मानसिक क्रियाएँ केवल मानसिक शक्तियो पर, जिन्हे वह आत्मा की शक्तियाँ कहता है, निर्भर नही है। आत्मा की शक्तियों के सहयोग से शारीरिक अवयवो मे गति उत्पन्न होती है। यही गति उन अवयवो को अपने लक्ष्य प्राप्त कराती है। अरस्तू के पूरे विवेचन से इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

१. डी एनिमा, ४१२ ए, ३०—४१२ बी. ६
२. डी सेंसू, अ० १, ४३६—ए, ६

सबसे प्रारंभिक मानसिक क्रिया, जिसे देखकर किसी दिये हुए प्राणी को जन्तु कहा जा सकता है, संवेदन की क्रिया है। यह क्रिया इसलिए संभव होती है कि जंतुओं के कुछ शारीरिक अवयवों में बाह्य पदार्थों के कुछ विशिष्ट गुणों से प्रभावित होने की शक्ति विकसित हो जाती है। जैसे, शरीर के मांसल भाग से किसी गर्म अथवा शीतल वस्तु के छू जाने से जंतु को उस वस्तु के गर्म अथवा शीतल होने का ज्ञान होता है। बाह्य पदार्थ के संपर्क में उस वस्तु के गुणों से प्रभावित होने की क्रिया को अरस्तू 'संवेदन' (Sensation) कहता है।[1]

इस क्रिया को वह तीन अवयवों पर निर्भर मानता था। पहला अवयव, बाह्य वस्तु के वे गुण हैं, जो शरीर के अवयवों को प्रभावित कर अपने सदृश ज्ञान उत्पन्न करते हैं। इन गुणों को वह 'संवेद्य गुण' कहता है। दूसरा अवयव, शरीर के वे अंग हैं, जिनमें संवेद्य गुणों से प्रभावित होनेवाली शक्तियाँ रहती हैं। इन्हें वह 'संवेद-संबंधी अंग' कहता है। तीसरा अवयव वे शक्तियाँ हैं, जो प्रभावों को ग्रहण करती हैं। इन्हें वह 'संवेदशक्ति' कहता है।

संवेद्य गुण

संवेद्य गुणों (Sensible qualities) को अरस्तू दो प्रकार का बतलाता है। कुछ संवेद्य गुण एक ही संवेद-शक्ति को प्रभावित करते हैं। जैसे, रंग अथवा वर्ण केवल दृष्टि को प्रभावित करता है, शब्द केवल श्रवणशक्ति को प्रभावित करता है। इस प्रकार के संवेद्य गुणों को 'विशिष्ट'[2] (Special) कहा गया है। दूसरे, 'सामान्य[3] संवेद्य गुण' (Common sensible qualities) होते हैं, जिनके प्रभावों को ग्रहण करने के लिए किसी विशिष्ट संवेद-शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। गति, विराम, संख्या आदि इनके उदाहरण हैं।

संवेद शक्तियाँ

इन संवेद्य गुणों को ग्रहण करनेवाली, अथवा इनसे प्रभावित होनेवाली

१. डी एनिमा, २, ५, ४१६ बी, ३२; ४१५ बी, २४; ४१७ बी, २७
२. डी एनिमा, ४१८ ए, ११
३. डी एनिमा, ४१८ ए, १५ से नीचे

शक्तियाँ 'सवेद-शक्तियाँ' कहलाती है। सवेद गुणो की भाति, ये दो प्रकार की नही होती, क्योकि सामान्य सवेद्य गुण किसी विशिष्ट शक्ति के विषय नही होते। सवेदशक्तियाँ, अरस्तू के मत में, केवल विशिष्ट होती है। इनमे से प्रत्येक का मुख्य स्वभाव किसी एक विशिष्ट सवेद्य गुण से प्रभावित होने का है, किन्तु गौण[1] रूप से ये ही सामान्य सवेद्य गुणो को भी ग्रहण कर लेती है। सवेद-शक्तियों के मुख्य और गौण व्यापारो का अतर स्पष्ट करने के लिए अरस्तू ने दृष्टि के दोनो प्रकार के व्यापारो के उदाहरण दिये है। दृष्टि का मुख्य कार्य वर्ण-सवेद है; किन्तु दियारिस का पुत्र सफेद रग के कपड़े पहन कर जब सामने आता है तो दृष्टि ही उसका ज्ञान करती है।

ऊपर दिये हुए उदाहरण से, अरस्तू का विशिष्ट और सामान्य सवेद्य गुणो का अतर हमे सवेदन और प्रत्यक्ष मे संबंध समझने में सहायता करता है। अरस्तू ने सवेदन का अर्थ गुणबोध और प्रत्यक्ष का अर्थ वस्तुबोध समझा था। इसीलिए उसने प्रत्यक्षो को सामान्य सवेद्य गुण कहा था। इस व्याख्या की कठिनाइयों को भी वह भली-भाँति समझता था कि विशिष्ट संवेद-शक्तिया एक दूसरे के सवेद्य गुणो के प्रभावो को किस प्रकार ग्रहण कर सकती है। इसीलिए, 'डी सॉम्नो एट विजीलिया' मे, सुषुप्ति और जाग्रति की व्याख्या करते हुए उसने बतलाया कि सवेदन की पूरी प्रक्रिया एक सवेद-शक्ति पर आधारित है।[2] उसी एक शक्ति का विशिष्ट संवेद्य गुणों के ग्रहण के निमित्त पाँच शक्तियो में विभाजन हो गया है। अरस्तू का यह विचार उसे आधुनिक मत के बहुत समीप ला देता है।

इसी प्रकार, अरस्तू का सवेद-शक्तियो और सवेद-सबधी अगो का अतर भी उसकी सवेदन-प्रक्रिया की व्याख्या को बहुत ही सूक्ष्म बना देता है। नेत्र नही दृष्टि-सवेद ग्रहण करता है, बल्कि नेत्र के भीतर दृष्टि-सबधी प्रभावो को ग्रहण करने की शक्ति रहती है। इसी प्रकार, अन्य सवेद-सबधी अगों में भी सवेद ग्रहण करने की विशिष्ट शक्तियाँ है। वर्त्तमान विचार इस

१. डी एनिमा, ४१८ ए, २०
२. डी सॉम्नो०, ४५५ ए, २०

मौलिक विचार का विस्तार मात्र है। अरस्तू को ज्ञानेंद्रियों के भीतर के अवयवों का ज्ञान होता तो वह भी यही कहता कि नेत्र के भीतर 'छड़े' और 'कोन' होते हैं, जो दृष्टि-संवेद ग्रहण करते हैं। फिर भी, वह अपने समय से बहुत आगे था।

उसका कथन है कि संवेदन के अंग और संवेद्य वस्तु के बीच में किसी न किसी माध्यम[1] के रहने पर ही संवेद-शक्ति अपना कार्य कर सकती है; जैसे, नेत्र पर किसी वस्तु को रख देने पर नेत्र उसे नहीं देख सकता। संवेद्य वस्तु इसी माध्यम को प्रभावित करता है और माध्यम उस प्रभाव को संवेद ग्रहण करनेवाले अंग तक पहुँचाता है। उसके अनुसार यह नियम पाँचों विशिष्ट संवेदों के ग्रहण में कार्यान्वित होता है।

(१) दृष्टि-संवेद

दृष्टि-संवेद नेत्र में उत्पन्न होता है। रंग अथवा वर्ण इस संवेद की विशिष्ट वस्तु है। वर्ण का प्रभाव बाह्य वस्तु से नेत्र तक बीच की वायु के माध्यम से पहुँचता है।[2] अरस्तू के अनुसार, वर्ण का स्वभाव पारदर्शी (Transparent) माध्यम में गति उत्पन्न कर देने का है। इसीलिए प्रकाश न रहने पर नेत्र में स्थित संवेद-शक्ति काम नहीं करती। प्रकाश के वर्त्तमान रहने पर वायु में, जो पारदर्शी होती है, वर्ण के स्पंदन उत्पन्न हो सकते हैं। ये स्पंदन ही नेत्र में जाकर संवेद-शक्ति को प्रभावित करते हैं और दृष्टि का संवेद उत्पन्न होता है।

(२) श्रवण-संवेद

दूसरा विशिष्ट संवेद श्रवण है। इस संवेद की शक्ति कान में स्थित रहती है। किन्तु हम पूरे कान से नहीं सुनते हैं। कान के भीतर एक कोठरी होती है, जिसमें वायु भरी रहती है।[3] कान की संवेद्य वस्तु शब्द (Sound) है। शब्द में जल और वायु को तरंगित करने का गुण होता है। इसलिए

१. डी एनिमा, ४१९ ए, १०
२. डी एनिमा, ४१९ ए, १२
३. डी एनिमा, ४२० ए, १७

जब वायु मे शब्द उत्पन्न होता है तो वह उसी के माध्यम से कान में जाकर उसके भीतर बन्द वायु को तरंगित करता है और शब्द का सवेद उत्पन्न हो कर उसी के सदृश ज्ञान कराता है।[1]

इस सवेद के विवरण मे भी अरस्तू का वाह्य निरीक्षण बहुत अच्छा व्यक्त हुआ है। वातावरण मे उत्पन्न हुए शब्द के कान तक पहुँचने की बात वह भली-भाँति जानता था। वह यह भी जानता था कि कान के भीतर एक कोठरी होती है, पर इसके तीन भागो का और उनके भीतर स्थित अवयवो का उसे ज्ञान न था। पर आधुनिक खोजो को इस ज्ञान ने कम सहारा नही दिया है कि कान के भीतर कोई ऐसा तरल पदार्थ रहता है, जो चारो ओर से बन्द रहने के कारण बाहर से आयी हुई तरगो को विस्तार दे देता है।

इतना ही नही, इस प्रसग मे उसने यह भी बताया है कि कान तीव्र और भारी शब्दो मे अतर कर लेता है, क्योकि ये गुण स्पदनो के वेग पर निर्भर है।[2]

(३) घ्राण-संवेद

तीसरा विशिष्ट संवेद घ्राण अथवा गध का सवेद है। इस सवेद की शक्ति नासिका मे स्थित रहती है। अरस्तू बतलाता है कि मनुष्य मे सूघने की शक्ति दूसरे जंतुओ की अपेक्षा कमजोर होती है।[3] इस तथ्य को वह दो प्रकार से समझाता है। एक बात तो यह कहता है कि मनुष्य विविध गंधो में अंतर नहीं कर पाता। इसीलिए गधो को वह कभी सुखद और दुखद प्रभावों के द्वारा जानता है।[4] कभी स्वाद की सहायता से जानता है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए अरस्तू ने गधो के विभाजन की शैलियों की ओर संकेत किया है। सामान्य भाषा मे गंध के दो प्रकार माने जाते है—सुगंध और दुर्गन्ध। दूसरी शैली मे, इसके तेज, अम्ल आदि प्रकार माने जाते है।[5] घ्राण-शक्ति

१. डी एनिमा, ४२० ए, ३
२. डी एनिमा, ४२० ए, ३३
३. डी एनिमा, ४२१ ए, ८
४. डी एनिमा, ४२१ ए, १०
५. डी एनिमा, ४२१ ए, २९

(Power of smelling) के कमजोर होने का अरस्तू दूसरा प्रमाण यह देता है कि अन्य जंतु तो दूर से ही गंध का ज्ञान कर लेते है, किन्तु मनुष्य को गंधयुक्त वायु को श्वास के साथ घूँटना पडता है।[1]

गंध के विषय में हमारी वर्त्तमान धारणाएँ अरस्तू की धारणाओ से बहुत मिलती-जुलती हैं। मनुष्य की घ्राणशक्ति की क्षीणता आधुनिक निरीक्षणो से भी अनुमोदित है। स्वाद और घ्राण के संवेदो के सम्मिश्रण की बात को भी अरस्तू हमारी ही भाँति जानता था।

(४) स्वाद का संवेद

स्वाद के विषय मे अरस्तू को यह तो मालूम था कि इसकी संवेद्य वस्तु घोल के रूप में होनी चाहिए। किन्तु उसे संभवत. यह न मालूम था कि संवेद की वास्तविक इन्द्रिय जिह्वा की गहराई में स्थित रहती है। यदि यह मालूम होता तो वह इस संवेद के ग्रहण के लिए माध्यम को अनावश्यक न बतलाता।[2] पर अरस्तू का यह ज्ञान कि जिह्वा के माध्यम से संवेद प्राप्त करने के लिए, संवेद्य पदार्थ का घोल के रूप मे होना आवश्यक है, अब भी उचित समझा जाता है। स्वाद के रंध्रो और उनके नीचे स्थित स्वाद-ग्राहक कोषों की खोज के लिए यह संकेत कम न था।

अरस्तू ने स्वादों का वर्गीकरण[3] लगभग आज के प्रचलित वर्गीकरण से मिलता-जुलता किया था। वह मधुर और तिक्त, अथवा मीठे और कडवे स्वादों को ही सरल स्वाद मानता था। दो और स्वादो को इनसे निकला हुआ मानता था—मीठे मे रसीला और कडवे से नमकीन। इन दोनो समूहो के बीच मे उसने चार और स्वाद माने थे, जिनमे से एक अम्ल अथवा खट्टा था। अब लोग चार प्रारंभिक स्वाद मानते हैं—मधुर, तिक्त, अम्ल और लवण।

(५) स्पर्श का संवेद

अरस्तू ने स्पर्श को पाँचवाँ विशिष्ट संवेद माना था। उसके अनुसार,

१. डी एनिमा, ४२१ बी, १३
२. डी एनिमा, ४२२ बी, १०

इस सवेद से, उष्ण-शीत तथा शुष्क-आर्द्र गुणो का ज्ञान होता है। उसे स्पर्श मे प्रभावित होनेवाले सूक्ष्म अवयवों का ज्ञान न था। वह यह समझता था कि स्पर्श-शक्ति जन्तु-मात्र मे पायी जाती है। इसी से उसने अनुमान किया था कि इसके द्वारा सरल पदार्थों मे पाये जानेवाले चारो गुणो का ज्ञान होता है। इस सवेद को उसने बहुत ही महत्त्वपूर्ण बतलाया है। यहाँ तक कि मानवीय बुद्धि का अधिक श्रेय इसी को दे देता है।[1]

स्पर्श के प्रसग मे उसने यह कहा है कि स्पर्श की शक्ति शरीर के बाहरी भाग में न होकर गहराई में होती है। इसी विचार की संगति में उसने शरीर के मासल भाग को केवल माध्यम कहा है।[2] भीतरी अवयवों का ज्ञान होता तो वह स्पर्श-बिन्दुओ को प्राप्त कर लेता। पर इतना विस्तृत विश्लेषण न कर पाने पर भी अरस्तू के सवेद-संबंधी विवरण मे काफी आधुनिकता मिलती है। आज भी विशिष्ट सवेदो की संख्या उतनी ही है, जितनी अरस्तू ने निश्चित की थी।

प्रत्यक्ष

अरस्तू ने सवेदो से अलग प्रत्यक्ष (Perception) की प्रक्रिया को समझाने का प्रयत्न नही किया है। ऐसा लगता है कि उसने वस्तु-ज्ञान को सवेद का स्वाभाविक विकास मान लिया था। प्रसंगत:, उसने कुछ बाते कही है, जिनसे यही निष्कर्ष उचित मालूम होता है। जैसे, सुषुप्ति के प्रसंग में उसने जिस एकात्मक शक्ति को सभी सवेद-शक्तियो का आधार बतलाया है, उसके लिए 'निरीक्षण की शक्ति'[3] (Faculty of Discerning) पद का भी प्रयोग किया है। एक स्थान पर वह कहता है कि 'प्रत्यक्ष करना कुछ बताने अथवा जानने के समान है'।[4] गंध के प्रसग मे कहता है कि 'सूघने का

१. डी एनिमा, ४२१ ए, २१
२. डी एनिमा, ४२२ बी, २०
३. डी सॉम्नो०, ४५५ ए, १७
४ डी एनिमा ४३१ ए ७

अर्थ सूघने मे उत्पन्न फल को देखना है।"[1] इन प्रसंगों से यही अभिप्राय निक-लता है कि संवेदों को ग्रहण करने के साथ-साथ उनके फलों का, स्वाभाविक रूप से प्रत्यक्ष होता है और इन दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

विचार और प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष का अर्थ निश्चित करने के लिए अरस्तू ने अन्य मानसिक क्रियाओं से इसकी तुलना भी की है। विचार से तुलना करते हुए वह बतलाता है कि इन दोनो में आत्मा ही वस्तुओं को एक दूसरे से अलग करती और पहचानती है।[2] पर दोनों एक नही हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान सब जंतुओ को होता है,[3] विचार केवल एक छोटे से वर्ग तक ही सीमित है।[4] प्रत्यक्ष में भूल की कोई गुंजाइश नही रहती है;[5] किन्तु विचार सही और गलत दोनों हो सकता है।[6] प्रत्यक्ष ज्ञान स्मृति से भी भिन्न होता है, क्योकि स्मृति भूतकाल के प्रत्यक्ष की होती है; प्रत्यक्ष वर्त्तमान संवेद का होता है।[7] प्रत्यक्ष और कल्पना में भी अंतर है, क्योंकि कल्पना स्मृति चित्रों पर आधारित रहती है।[8]

भ्रम

अरस्तू के भ्रम के विवेचन से भी प्रत्यक्ष की प्रकृति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। ऊपर कहा जा चुका है कि अरस्तू के अनुसार प्रत्यक्ष में भूल (Error) के लिए स्थान नहीं रहता है। उसका तात्पर्य यह था कि जब संवेदो के आधार पर वस्तु के सदृश ज्ञान होता है, तभी उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। भूल या

१. डी एनिमा, ४२४ बी, १५
२. डी एनिमा, ४२७ ए, १८
३. डी एनिमा, ४२७ बी, ५ के नीचे, तीसरी पंक्ति
४. डी एनिमा, ४२७ बी, ७
५-६. डी एनिमा, ४२७ बी, ११
७. डी मेमोरिया एट रेमिनिसेंशिया, ४४९ बी, १३
८. डी एनिमा, ४२८ ए, १

भ्रम (Illusion) तब कहते हैं, जब ज्ञान वस्तु से भिन्न होता है।[1] अरस्तू ने तीन अवस्थाएँ बतलायी है, जिनमे भ्रम सभव है—

(१) दो उँगलियों को एक दूसरे पर चढ़ाकर, उनके बीच मे किसी एक वस्तु को रखने पर, दो वस्तुओ का बोध होता है। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि भूल का कारण अनुचित निर्णय है और यह इसलिए हुआ है कि एक ही वस्तु ने दोनो उँगलियो को उसी प्रकार प्रभावित किया है जैसे दो वस्तुएँ कर सकती थी। इस विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि (क) प्रत्यक्ष वस्तु का नही, बल्कि वस्तु के द्वारा उत्पन्न किये हुए सवेद का होना है, और (ख) प्रत्यक्ष मे सवेद-संबधी निर्णय छिपा रहता है।[2]

(२) अरस्तू का दिया हुआ भ्रम का दूसरा उदाहरण यह है कि एक ही व्यक्ति को देखकर डरपोक उसे शत्रु समझता है और अनुरागी उसे मित्र समझता है। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है? अरस्तू कहता है कि सवेग की उपस्थिति से सवेद का प्रत्यक्ष करने मे भूल हो गयी है।[3] इसका अर्थ है कि प्रत्यक्ष मे संवेद का निर्णय होता है, जो सवेग की अवस्था मे वस्तु के सदृश न होकर संवेग के सदृश हो जाता है। इसी प्रसग मे अरस्तू एक बात और कहता है, जिससे प्रत्यक्ष के एक और आधार का पता लग जाता है। वह कहता है कि जितना अधिक सवेग होता है, उतने ही कम सादृश्य मे भ्रम उत्पन्न हो जाता है।[4] इससे पता चलता है कि प्रत्यक्ष में सम्मिलित निर्णय सादृश्य के आधार पर किया जाता है।

(३) अरस्तू का तीसरा उदाहरण ज्वर की अधिकता मे अप्रस्तुत वस्तुओ का दिखाई देना है।[5] वस्तुएँ होती नही है, पर बीमार को दिखाई देती है। यह उदाहरण, आज के मनोविज्ञान के अनुसार, मतिभ्रम का है। अरस्तू ने

१. डी एनिमा, ४२७ बी, २
२. डी सॉम्निस, ४६० बी, २०
३. डी सॉम्निस, ४६० बी, २
४. डी सॉम्निस, ४६० बी, ६
५. डी सॉम्निस, ४६० बी, ११

भ्रम और मतिभ्रम में अन्तर नही किया था। किन्तु प्रस्तुत प्रसग मे उक्त अन्तर न करने से कोई हानि नही। यहाँ तो केवल यह देखना है कि वस्तु की अनुपस्थिति मे होनेवाला प्रत्यक्ष किन मानसिक क्रियाओ पर निर्भर है। अरस्तू इस घटना के दो कारण बताता है, जो हमारे आधुनिक विचारो के अनुरूप है।

पहला कारण यह है कि प्रत्यक्ष की वस्तुओ के बिम्ब बनते है, जो बाह्य वस्तु के सपर्क मे न रहने पर भी मिटते नही है।[1] आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा ने इन बिम्बों को 'पश्चात् बिम्ब' (आफटर इमेज) कहते है। दूसरा कारण यह है कि ज्वर आदि की दशा में मन की नियन्त्रण-शक्ति काम नही करती। यहा पर अरस्तू, मानस प्रत्यक्ष की शक्ति से भिन्न, नियन्त्रण की शक्ति को स्वीकार करता है।[2] मनोविश्लेषण-संप्रदाय में भी मन के भीतर रहनेवाली एक आलोचना-शक्ति 'इन्डोमाइकिक सेशर' को स्वीकार किया गया है।

पश्चात् बिम्ब

अरस्तू 'पश्चात् बिम्ब' की घटना मे परिचित था। इसी के ज्ञान के आधार पर, उसने कल्पना, स्मृति, स्वप्न आदि की प्रक्रियाओं को समझाया है। पश्चात्-बिम्ब का विवरण, उसने इतने स्पष्ट शब्दो मे दिया है कि उसे कुछ और समझा ही नही जा सकता। वह कहता है कि ऐन्द्रिक-प्रत्यक्ष की वस्तुएँ ज्ञानेन्द्रिया को इस प्रकार प्रभावित करती है कि उनके प्रभाव न केवल प्रत्यक्ष के समय विद्यमान रहते है, बल्कि वस्तुओ के हट जाने पर भी रहते है।[3] इतना ही नहीं, उसे आधुनिक मनोविज्ञान द्वारा प्रमाणित किए हुए, पश्चात्बिम्ब के भावात्मक (पॉजिटिव) और अभावात्मक (नेगेटिव) रूपो का भी ज्ञान था।

उसके मत में मानसिक क्रियाओ के शारीरिक सह-सबध होते है। प्रत्यक्ष की क्रिया मे पहले सवेद-संबंधी अगो, अथवा ज्ञानेन्द्रियो, पर वस्तु के गुणों का प्रभाव पड़ता है। ज्ञानेन्द्रियों के प्रभावित होने पर ही सामान्य सवेद्य वस्तु का

१. डी सॉम्निस, ४६० बी, १
२. डी सॉम्निस, ४६० बी, १६
३ डी सॉम्निस- ४६० बी १· ४५९ ए, २५

ज्ञान होता है। इसीलिए, ज्ञानेन्द्रियों में उत्पन्न प्रभाव, जो गुण-संबंधी परिवर्त्तन होता है,[1] एकाएक मिट नही पाता। यह परिवर्त्तन वास्तविक होने से भावात्मक होता है। अरस्तू कहता है कि देर तक किसी एक ही रंग पर दृष्टि जमाये रखने के बाद, यदि हम किसी दूसरे रंग को देखते हैं, तो वही पहलेवाला रंग दिखाई देता है।[2] इसके विपरीत, किसी चमकदार वस्तु, जैसे सूर्य, की ओर थोडी देर तक देखने के बाद यदि हम अपनी आँखें बन्द कर ले, तो कुछ देर तक वही रंग दिखाई देगा, किन्तु शीघ्र ही वह बैंगनी, अथवा हलके नीले रंग में बदल जायेगा, फिर काला होगा और तब मिटेगा।[3] निश्चय ही ये उदाहरण क्रमशः भावात्मक और अभावात्मक पश्चात् बिम्बो के है।

कल्पना

ये बिम्ब न बनते होते तो बाह्य वस्तु का, इन्द्रियो से संपर्क नष्ट होते ही, कोई ज्ञान शेष न रहता, किंतु बिम्बो के ज्ञानेन्द्रियों में शेष रहने से इच्छा करते ही मानसिक चित्र उपस्थित हो जाते है।[4] इससे स्पष्ट है कि बिम्बो अथवा मानसिक चित्रो के आधार पर होनेवाली मानसिक क्रिया उसी जंतु में हो सकती है, जो संवेदो को प्रत्यक्ष कर सकता हो। पर सभी जंतु प्रत्यक्ष की दृष्टि से समान नही होते। अरस्तू ने संवेदों का विवरण प्रस्तुत करते हुए बताया था कि स्पर्श की शक्ति सभी जंतुओ में होती है। शेष में कुछ संवेदो की शक्ति होती है, कुछ की नही। केवल मनुष्य ऐसा जंतु है, जिसमें पाँचो संवेदो की शक्तियाँ पायी जाती है। दूसरी बात यह है कि मानसिक क्रियाएँ आधारभूत पदार्थो पर ही नहीं, मानसिक शक्ति पर भी निर्भर रहती है। इसलिए बहुत छोटे जंतु, जैसे चीटी, प्रत्यक्ष के चित्रों से काम नही ले पाते। उनसे बड़े जंतु प्रत्यक्ष के चित्रो से काम लेते है। पर उनके सही और गलत होने का निर्णय

१. डी सॉम्निस, ४५९ बी, ६
२. डी सॉम्निस, ४५९ बी, ११
३. डी सॉम्निस, ४५९ बी, १३
४. डी एनिमा, ४२७ बी, १८

नही कर पाते । प्रत्यक्ष के चित्रों से काम लेने की इस प्रारंभिक प्रक्रिया को, जिसमे सही-गलत का निर्णय नही होना है, अरस्तू कल्पना या 'इमैजिनेशन' मानता है ।[1]

मनुष्य मे निर्णय की शक्ति विकसित हो जाती है, इसलिए वह कल्पना से तभी काम लेता है जब उसकी निर्णय-शक्ति भावना से, रोग मे अथवा निद्रा से बाधित हो जाती है ।[2] जैसे, वह सूर्य की परिधि के एक ही फुट होने की कल्पना कर सकता है, यद्यपि वह जानता है कि सूर्य की परिधि पृथ्वी से भी बडी है । इसी प्रकार, ज्वर के प्रकोप मे वह भयानक पशु देखता है; निद्रा की अवस्था मे स्वप्न देखता है । अरस्तू के अनुसार ये ही कल्पनाएँ है । वह स्वतत्र कल्पनाओं को ही अपने विवेचन मे स्थान देता है, जब कि आधुनिक मनोविज्ञान मे नियन्त्रित कल्पनाओ को भी स्थान दिया जाता है ।

स्मृति

दूसरी मानसिक प्रक्रिया, जिसे अरस्तू प्रत्यक्ष से प्राप्त चित्रो पर निर्भर बनाता है, स्मृति है । इसके सबंध में उसका कथन है कि यह प्रक्रिया उन्ही पशुओ में पायी जाती है, जिन्हे समय का ज्ञान होता है ।[3] प्रत्यक्ष के काल से कुछ समय बीत जाने के बाद, जब प्रत्यक्ष अनुभव के चित्र द्वारा मन के सामने उपस्थित होते है, तभी स्मृति मानी जाती है । अरस्तू का कथन है कि जिस शक्ति से समय के सामान्य सवेदो का ज्ञान होता है, उसी शक्ति से स्मृति भी होती है ।[4] पर प्रत्यक्ष और स्मृति, एक ही मानसिक क्रिया के अंग होने पर भी, भिन्न होते है । एक तो समय का व्यवधान दोनों में भेद कर देता है । दूसरे, प्रत्यक्ष और स्मृति मे भिन्न प्रतीतियो का अन्तर है । प्रत्यक्ष मे बाह्य वस्तु की प्रतीति होती है, किन्तु स्मृति मे केवल उसके सादृश्य (Similarity) की

१. डी एनिमा, ४२७ बी, १६; ४२८ ए, ५-१५; ४२८ बी, १, १०
२. डी एनिमा, ४२९ ए, ५
३. डी मेमोरिया, ४४९ बी, २६
४. डी मेमो०, ४५० ए, १० के नीचे

प्रतीति होती है। इस अनर को व्यक्त करने के लिए, अरस्तू कहता है कि स्मृति प्रत्यक्ष की वह स्थिति है,जिसमे प्रत्यक्ष और बाह्य वस्तु के बीच सादृश्य का संवध रहता है।[१] स्मृति-सबंधी बहुत-सी बाते अरस्तू के पुनरावर्त्तन (रिकलेकशन) के विवेचन से स्पष्ट होती है।

पुनरावर्त्तन

वह, आधुनिक मनोवैज्ञानिको की भाँति, स्मृति के कार्य को पुनरावर्त्तन (Recollection) पर निर्भर मानता था। यदि किसी पुराने अनुभव का मानसिक पुनरावर्त्तन हो जाता है तो उस अनुभव का स्मरण होना अवश्य-भावी है।[२] यह प्रक्रिया एक प्रकार की खोज है। ऊपर कहा जा चुका है कि किसी अनुभव को याद करने की तुरत आवश्यकता नही होती, कुछ समय बीत जाने पर ही होती है। जिस समय याद करने की आवश्यकता होती है, वह अनुभव, ज्ञानेन्द्रियो पर पड़े हुए बहुत-से प्रभावो के जटिल सस्थान का अग बन चुकता है। इसलिए पुनरावर्त्तन का प्रयत्न करनेवाले को शारीरिक पृष्ठभूमि पर अकित प्रभावो को टटोलना पड़ता है।[३] अरस्तू इसे प्रमाणित करने के लिए बतलाता है कि उन व्यक्तियो की स्मरण-शक्ति बहुत खराब होती है, जिनके शरीर के ऊपरी अग बहुत बडे होते हैं। उसका तात्पर्य यह है कि शिर बहुत बडा होने से प्रत्यक्ष की क्रिया मे सम्मिलित होनेवाले अगो पर बोझा पड़ता है।[४]

अरस्तू का यह निरीक्षण उचित हो अथवा न हो, इससे यह तो मालूम होता है कि वह पुनरावर्त्तन को भौतिक अवयवो पर भी निर्भर समझता था। उसका दूसरा कथन इस विचार को और भी स्पष्ट कर देता है कि बालको और वृद्धो की स्मरण-शक्ति खराब होती है। अरस्तू इसका कारण यह बताता है कि बालको

१. डी मेमोरिया, ४५१ ए, १५
२. डी मेमोरिया, ४५१ बी, ५
३. डी मेमोरिया , ४५३ ए, १५
४. डी मेमोरिया, ४५३ बी, १

के शरीर मे वृद्धि होते रहने के कारण, और वृद्धो के शरीर में पतन होते रहने के कारण इतनी गति होती रहती है कि स्मृति-संबंधी स्पंदन ठीक मार्ग पर नही जा पाते ।[1] वह मन के उचित मार्ग से हट जाने से भी पुनरावर्त्तन मे बाधा पहुँचने की बात कहता है ।[2] यदि वह मस्तिष्क के अवयवो में बने हुए मार्गो की चर्चा कर देता तो उसका विवरण बिलकुल आज के मनोविज्ञान से मिलता । पर मार्ग की कल्पना करने से, उस मार्ग को मस्तिष्क मे स्थित करने तक केवल एक ही कदम का अंतर है ।

पुनरावर्त्तन का दूसरा आधार अनुभव के अवयवों के पारस्परिक सबधों मे मिलता है । अरस्तू कहता है कि हम उस अनुभव तक, जिसकी खोज करते है, एकाएक नहीं पहुंच पाते है । अनुभवो की शृंखला में हमे एक अनुभव से दूसरे तक बढना पडता है । यह इसलिए सभव होता है कि अनुभव के अंश परस्पर सबद्ध (Contiguous) हो जाते हैं ।[3] इस संबद्धता (Contiguity) का कारण कभी अनुभवो की एकरूपता, कभी एककालिकता और कभी अश-अशी सबंध होता है ।[4] अरस्तू के इन विचारो मे मानसिक साहचर्य '(एसोसिएशन)' के उन नियमो का संकेत है, जिन्हे डेविड ह्यूम[5] ने स्मति के आधारभूत सिद्धान्तों के रूप मे प्रचलित किया था ।

उपर्युक्त दो आधारो के अतिरिक्त, स्मरण करने के ढग पर भी पुनरावर्त्तन का होना, न होना निर्भर रहता है । यदि अनुभव करते समय, अनुभव को किसी क्रम से समझ लिया जाता है और उसी क्रम से स्मरण किया जाता है,

१. डी मेमोरिया, ४५३ बी, ४
२. डी मेमो०, ४५२ बी, १
.३ डी मेमोरिया, ४५१ बी, १७
४. डी मेमोरिया, ४५१ बी, २१
५. डेविड ह्यूम (१७११-७६) स्काटलैंड का प्रसिद्ध विचारक था । कोलरिज का कथन है कि ह्यूम ने साहचर्य के नियमों का संकेत टामस एक्वीना की 'डी एनिमा' की व्याख्या से लिया था

तो सरलतापूर्वक पुनरावर्त्तन हो जाता है ।[1] कभी-कभी सुपरिचित अनुभव अल्प परिचित अनुभवों के पुनरावर्तन में बाधक होते हैं ।[2] जैसे, किसी के नाम का स्मरण करते समय, अधिक परिचयवाला मिलता-जुलता नाम बारबार याद आता है और वह नाम नही याद आता, जिसे हम याद करना चाहते हैं। यदि अनुभव के सभी तथ्यों से समान परिचय प्राप्त कर लिया जाये, तो यह कठिनाई भी दूर हो सकती है। तीसरी आवश्यक बात, इस प्रसग मे, अरस्तू ने यह बतलायी कि काल-सबध पुनरावर्त्तन के लिए बहुत आवश्यक है।[3] यदि हम यह याद कर सकते हैं कि अनुभव किस समय हुआ था, तो उस अनुभव को दुहरा सकते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान में सीखने के ढग पर पुनरावर्त्तन की सफलता निर्भर मानी जाती है और सीखनेवाले को इसी प्रकार के सुझाव दिये जाते हैं।

निद्रा

अरस्तू के मनोवैज्ञानिक विवेचन मे, निद्रा और स्वप्न की समस्याएँ भी प्रत्यक्ष से ही सबध रखती हैं। प्रत्येक जीवित प्राणी की दो ही अवस्थाएँ होती हैं। वह सोता है, अथवा जागता है।[4] जितने समय तक जागता रहता है, बराबर सवेदन की क्रिया होती रहती है और बाह्य वस्तुओं के प्रत्यक्ष होते रहते हैं। ये क्रियाएँ निरतर नही हो सकती, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ भी अन्य अगों की भाँति थकती रहती हैं।[5] इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए अरस्तू इस बात की ओर संकेत करता है कि प्राय भोजन के उपरान्त, थकावट (Fatigue) के कारण, रोग की दशा मे, अथवा शैशव-काल मे, नीद बहुत आती है। इन सभी हालतो मे शारीरिक क्रियाओं का भार उन्हें वहन करनेवाली शक्तियों से अधिक हो जाता है।

१. डी मेमोरिया, ४५२ ए, १
२. डी मेमोरिया, ४५२ ए, २६
३. डी मेमोरिया, ४५२ बी, २१
४. डी सॉम्नो०, ४५४ बी, १
५. डी सॉम्नो०, ४५४-ए, ३०

नीद का विवरण[1] देते हुए, अरस्तू ने आमाशय की गर्मी के उतार-चढाव को नीद का कारण बतलाया है। मनुष्य तथा अन्य पशुओ के आमाशय मे जो ऊष्मा रहती है, वही भोजन मे निकाले हुए रस को धमनियो के मार्ग से सिर की ओर ले जाती है। जब वह रस सिर तक पहुँच जाता है और आगे जाने का मार्ग नही रहता, तो नीचे की ओर लौटता है और साथ ही ऊष्मा का भी पतन होता है। ज्यो ही ऊष्मा का अधःपतन प्रारभ होता है, मनुष्य ऊँघने लगता है और ज्यो-ज्यो यह प्रक्रिया आगे बढ़ती है निन्द्रा की अन्य अवस्थाएँ, अचेतनता, स्वप्न आदि उत्पन्न होती है। इन प्रक्रियाओं की प्रगति के साथ-साथ संवेदन तथा प्रत्यक्ष का बाध[2] होता है और सुप्त प्राणी की इन्द्रियाँ अपनी सोयी हुई शक्ति को फिर से प्राप्त कर लेती है।[3] इस प्रकार, अरस्तू ने निद्रा को दो रूपो मे देखा है। एक तो वह इसे काम से टूटे हुए प्राणियो के दैनिक निर्माण-काल के रूप में देखता है, दूसरे, स्वप्न की आधारभूमि के रूप मे।

स्वप्न

अरस्तू का स्वप्न-सबधी विचार भी ध्यान देने योग्य है। आज भी बहुत से लोग समझते है कि स्वप्न मे न केवल हमारे मानसिक विकार रूप ग्रहण करते है, बल्कि इनमे कोई आध्यात्मिक शक्ति हमे भावी घटनाओं के सदेश देती है। अरस्तू ने इस प्रकार के विश्वासो का खडन कर वैज्ञानिक दृष्टिकोण की स्थापना की। स्वप्न मे भावी घटनाओ के सकेत मिलने की बात पर, उसने कहा कि जाग्रत मे सोची हुई बातों मे से भी बहुत-सी हो पडती है। अतर केवल यह होता है कि जाग्रत अवस्था मे हम जानते है कि हम किसी घटना को सभाव्य मान रहे हैं, अथवा उसकी आकाक्षा कर रहे है, स्वप्न मे इस प्रकार का ज्ञान नही रहता।

अरस्तू के इस विचार को समझने के लिए हमे यह जानना आवश्यक है

१. डी सॉम्नो०, ४५७–बी १ से २७ तक
२. डी सॉम्नो०, ४५४–बी, १०
३. डी सॉम्नो०, ४५५–बी, २३

कि अरस्तू निद्रा मे पूर्ण अचेतनता का समावेश नही मानता था। निद्रा मे हमारी थकी हुई सवेद-शक्तियाँ आराम करती है, किन्तु ऐसा नही होता कि किसी प्रकार के सवेद होने ही न हो।[१] वह कहता है कि कुछ लोग सोते-सोते कुछ पूछिए तो उसका उत्तर दे देते है।[२] यह बहुत लोग जानते रहते है कि वे सो रहे है, अथवा स्वप्न देख रहे है। जिनको इतनी चेतना नही रहती, वे भी इन्द्रियों पर पडे हुए प्रभावो को थोड़ा-बहुत जानते रहते है। जैसे, कभी-कभी छोटी-मोटी आवाजो को बिजली की कडक समझ लिया जाता है।[३]

उन अवस्थाओ के विषय मे, जिनमे ऐसे अनुभव होते है, अरस्तू का सुझाव है कि सोना और जागना एक दूसरे के विपरीत होने से, एक दूसरे से अलग नही किये जा सकते है। सोने मे हम थोडा-थोडा जागते रहते है और जागने मे थोड़ा-थोड़ा सोते रहते हैं।[४] इस प्रकार सोचने पर ऊपर के अनुभवो को हमे प्रत्यक्ष के ही विभाग मे मानना पड़ेगा; पर ये ऐसे प्रत्यक्ष है, जिन्हे सत्य और असत्य की कसौटी पर कसा नही जा सकता। जैसे, छोटी-मोटी आवाजे बडी मालूम होती है। इनमें सत्य का अंश रहता है, किन्तु विस्तार के कारण वह असत्य हो जाता है। अरस्तू ऐसे प्रत्यक्षो को, जो सत्य और असत्य दोनो हो, कल्पना कहता था। इसलिए हमें यह मानना पडेगा कि ये स्वप्न कल्पना के आकार के होते है।

वे स्वप्न जिनमें कुछ घटनाओ का आभास मिलता है और जागने पर उन्हे हम सही पाते है, इन कल्पनाओ के आकारवाले स्वप्नो से भिन्न अवश्य है, पर अलौकिक नही है। स्वप्न के इन अनुभवो को अरस्तू दो प्रकारो मे बाँटता है। कुछ अनुभव समीप की घटनाओ से संबध रखते है। दूसरे इतने दूर के होते है कि उनमें हम अपने जाग्रत के अनुभवो से कोई संबध नही पाते है।

१. डी सॉम्निस, ४६२ ए, १९
२. डी सॉम्निस, ४६२ ए, २६
३. डी डिविनेशनी पर सॉम्नम, ४६२ बी, १०
४ डी सॉम्निस ४६२ ए, २५ से नीचे

अरस्तू दूरस्थ घटनाओ के अनुभवो को केवल सह-घटित[1] (Coincident) मानता था। समीपस्थ घटनाओ के स्वप्नगत अनुभवो को वह दिन के अनुभवो पर आधारित मानता था।

उसका कथन है कि जागते समय, जब हम कोई काम करना चाहते है अथवा करते रहते हैं, तो हमारा ध्यान उन कामो मे इतना फँसा रहता है कि स्वप्न मे भी हम अपने को उन कामो को करता हुआ पाते हैं। इससे यही नतीजा निकलता है कि स्वप्न मे होनेवाली बातो के आधार दिन के कामो मे बनते रहते हैं। इसका उलटा भी सभव है। दिन के कामों के आधार रात मे दिखाई देनेवाले चित्रो मे बन सकते हैं।[2] यह भी आवश्यक नहीं है कि स्वप्न के सकेतो के आधार पर हमेशा क्रिया होती ह।। स्वप्न कोई जाग्रत के चितन तो होते नही, वे तो ज्ञानेन्द्रियों मे दबे हुए उन स्पदनो मे रूप ग्रहण करते है, जिनकी ओर जागरूक होकर ध्यान नही दिया जा सकता।[3] अरस्तू के इस कथन मे स्वप्न के अवचेतन (Sub-conscious) आधार का सकेत है, जिसे मनोविश्लेषण संप्रदाय ने स्वप्न की व्याख्या मे प्रमुख स्थान दिया है।

अरस्तू ने स्वप्न की व्याख्या[4] की भी चर्चा की है। उसका कथन है कि स्वप्न की व्याख्या मे वह व्यक्ति सफल हो सकता है, जो स्वप्न के रूपो मे वस्तु सादृश्य[5] (Objective Resemblance) खोज सकता है, क्योकि स्वप्न का स्वरूप पानी में दिखाई देनेवाले प्रतिबिम्ब की भाँति होता है। आशय यह है कि पानी मे दिखाई देनेवाला प्रतिबिम्ब स्थिर नही रहता, जो उसका भलीभाँति निरीक्षण किया जा सके। स्वप्न मे दिखाई देनेवाले रूप

१. डी डिविनेशनी, ४६३ ए, ३३ से ४६३ बी, ३ तक
२. डी डिविनेशनी, ४६३ ए, २७
३. डी सॉम्निस, ४६१ बी, २२
४. डी डिविनेशनी, ४६४ बी, ७–१५
५. डी डिविनेशनी, ४६४ बी, ७

भी इसी प्रकार बदलते रहते हैं। व्याख्या करने में, दूसरी बात ध्यान देने की यह होती है कि स्वप्न का कौन-सा अंश स्वप्न का अर्थ पूरा-पूरा व्यक्त करता है। अरस्तू के मनोवैज्ञानिक चिंतन में संवेदन के ही विभिन्न विकारों का विवेचन मिलता है। उपर्युक्त मानसिक क्रियाओं में एक भी ऐसी नहीं मिली, जिसके विकास का इतिहास ज्ञानेन्द्रियों के स्पर्शों से प्रारंभ न हुआ हो।

विचार

अब अरस्तू मानसिक विकास के उस स्तर की चर्चा करता है, जिस पर, मानसिक प्रक्रिया किसी इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं करती। 'मन', अरस्तू के मत में, न तो इन्द्रिय है और न इन्द्रियों से संबद्ध है। वह कोई भौतिक वस्तु नहीं है, केवल एक क्षमता है, आत्मा का एक स्वतंत्र विभाग है।[1] किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यह विभाग वस्तुओं को फिर जानता कैसे है ? ज्ञान प्राप्त करने के लिए, ज्ञाता और ज्ञेय में संबंध होना चाहिए। इस प्रसंग में, अरस्तू कहता है कि बाह्य वस्तुएँ 'मन' के द्वारा ज्ञेय नहीं है। वस्तुज्ञान तो प्रत्यक्ष में ही हो जाता है। 'मन का ज्ञेय स्वयं मन है।[2] जैसे, कोरी पट्टी[3] पर सभी कुछ लिखा रहता है, उसी प्रकार आत्मा में सभी वस्तुओं का ज्ञान अव्यक्त रूप से वर्त्तमान रहता है, क्योंकि आत्मा सब वस्तुओं की वास्तविकता है।

यहाँ पर दो प्रश्न फिर उठ जाते हैं। एक यह कि यदि मन कोरी पटिया के समान है और उस पर अंक बनने पर वस्तुओं का ज्ञान होता है, तो उसका कोई स्थूल रूप होना चाहिए। दूसरा यह कि यदि आत्मा में अव्यक्त रूप से सभी वस्तुओं का ज्ञान रहता है, तो बिना संवेद और प्रत्यक्ष के भी ज्ञान होना चाहिए। अरस्तू की बात ठीक-ठीक समझ लेने पर ये प्रश्न अनावश्यक प्रतीत होते हैं।

१. डी एनिमा, ४२९ ए, २१-२५।
२. डी एनिमा, ४२९ बी, ३०-४३० ए, ४।
३. डी एनिमा, ४३० ए, १।

उसके कथन से जॉन लॉक[1] का सिद्धान्त कि 'मन' एक कोरी पटिया है, जिस पर अनुभव ज्ञान अकित करता है, बहुत दूर है। अरस्तू यह नही कहता कि मन कोरी पटिया है, बल्कि उसी की भाँति है। उस पर अक लिखे नही जाते बल्कि अपने आप उभरते है।

दूसरा प्रश्न भी अनावश्यक है। आत्मा मे सभी वस्तुओ का ज्ञान अव्यक्त रूप से रहने का यह अर्थ नहीं है कि पशुओ को भी वह ज्ञान हो सकता है, जो मनुष्य को होता है। अरस्तू के मत मे अव्यक्त से व्यक्त तक एक विकासक्रम पूर्ण होता है। विकास का प्रत्येक स्तर अगले स्तर की प्रकृति बन जाता है। इस प्रकृति मे अगले स्तर पर व्यक्त होने वाली विशेषताओ के प्रस्फुटन की क्षमता रहने पर भी, वे विशेषताएँ व्यक्त नही हो सकतीं क्योकि उनकी वास्तविकता अगले स्तर पर सयुक्त होनेवाली आकृति मे रहती है।

इस सामान्य सिद्धान्त का तिरस्कार कर अरस्तू के 'मन' का सिद्धान्त[2] समझ मे नही आ सकता। जीवित शरीर मे स्पर्श-शक्ति का समावेश होते ही वह जतु हो जाता हे और उसे स्पर्श का अनुभव होने लगता है। धीरे-धीरे, अन्य सवेद-शक्तियो का विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो से सयोग होता है और तब विभिन्न सवेदो के अनुभव होते है। इन सवेदो मे व्यवस्था और नियमन करनेवाली सामान्य सवेद-शक्ति का समावेश होता है और प्रत्यक्ष होने लगते है। इन प्रत्यक्षो के बिम्ब बनते है और इन बिम्बो के उदय और अस्त से पुनरावर्त्तन होता है, स्मृति बनती है और भूले भी होती है। बिम्बो के ही स्मृत और विस्मृत रूपो के संयोगो के प्रत्यक्ष से भ्रम होते है, कल्पनाएँ विकसित होती है, स्वप्न दिखाई देते है।

यही पर आत्मा का एक विभाग 'मन' की आकृति लेकर, प्रत्यक्ष-शक्ति

१. जॉन लॉक (१६३२-१७०४)—अंग्रेज विचारक, जो नैसर्गिक ज्ञान के खंडन के लिए प्रसिद्ध है। मनोविज्ञान के इतिहास से पता चलता है कि उसने अरस्तू का अध्ययन किया था। (देखिए, ब्रेट, हिस्ट्री ऑव साइकॉलॉजी, अ० १२, पृ० ४०३, १९५३ के संस्करण में)

२ अरस्तू के 'मन 'के सिद्धान्त के लिए देखिए डी एनिमा. अ० ४-८

से प्राप्त किये हुए बिम्बों अथवा मानस-चित्रों की व्यवस्था करता है; उन आकृतियों में भी आकृति का समावेश करता है। अरस्तू के इस विचार को हम तभी समझ सकते है, जब यह कल्पना करे कि हमारे मानसिक जीवन मे, सवेद से लेकर विचार तक, बाह्य वस्तुओं के प्रभाव से उत्पन्न स्पदनों और उन स्पदनों के स्पंदनों की, एक के बाद एक सूक्ष्म शक्तियों द्वारा व्यवस्था होती चली जाती है। इस विकासक्रम मे सूक्ष्मतम व्यवस्था का नाम 'विचार' है और जिस शक्ति, विभाग अथवा क्षमता के द्वारा यह व्यवस्था सपन्न होती है, उसका नाम 'मन' है।

इस प्रकार सोचने पर ही अरस्तू द्वारा कही हुई 'मन' और 'विचार'-संबंधी बातों को समझा जा सकता है। वह कहता है कि 'मन' आकृतियों की आकृति है, जैसे सवेद-शक्ति सवेद्य वस्तुओं की आकृति है। विचार की वस्तुएँ सवेद्य आकृतियों मे रहती है। मन की वस्तुएं अविभाज्य होती है, सरल होती है। ठीक ही है, सवेद की आकृतियाँ मन के नित्य विषय है। आकृतियाँ विभाजित नही होती। अरस्तू के 'मन' और 'विचार' के प्रत्यय मानसिक क्रिया-संबंधी विचार की चरम सीमा है। इसके बाद कर्म का क्षेत्र आ जाता है।

अध्याय ८

दर्शन

अरस्तू का दर्शन उसके भौतिक विज्ञान का परिशिष्ट है। भौतिक विज्ञान मे अरस्तू ने 'सत्ता' के आठ भेद माने थे और उन आठों की प्रकृति पर विचार किया था। दर्शन में वह आठ सत्ताओं मे से 'सार' (Essence) अथवा 'द्रव्य' (Substance) को प्राथमिक सिद्ध करता है और इस प्राथमिक सत्ता का स्वरूप निश्चित करने का प्रयत्न करता है। भौतिक विज्ञान ने चार कारणो के अनुसधान के द्वारा सत्ताओं की व्याख्या की गयी थी। दर्शन मे अरस्तू ने चार कारणो मे से एक को प्राथमिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार भौतिक विज्ञान मे अरस्तू ने गतिशील वस्तुओं की प्रकृति पर विचार कर, उनके अटल केन्द्र का निश्चय किया था। दर्शन मे वह गति के मूल स्रोत का ईश्वर से तादात्म्य दिखाता है।

दर्शन को अरस्तू विज्ञानों मे 'प्रथम' कहता था। इसे वह मनुष्य की नैसर्गिक जिज्ञासा का चरम विकास मानता था। उसने 'तत्त्वविद्या' के प्रारभ मे कहा है कि 'स्वभावत. सभी मनुष्यों की जानने की इच्छा होती है।'[१] इसी स्वभाव के कारण इद्रिय-सवेदन होता है। सवेदनो का स्मृति में विकास होता है। इस विकास से अनुभव और अनुभव से विज्ञान की प्राप्ति होती है। विज्ञान से दार्शनिक ज्ञान की उपलब्धि होती है। इस प्रकार अरस्तू के मत से दर्शन की उत्पत्ति मे मनुष्य की सहज जिज्ञासा का चरम उत्कर्ष देखने को मिलता है। इसी लिए दर्शन को उसने विज्ञानो मे प्रथम कहा था।

दार्शनिक ज्ञान के स्वभाव के आधार पर भी उसने इसे प्रथम ठहराया था। उसका कथन है[२] कि दर्शन मे प्राप्त होनेवाला ज्ञान उच्चतम सामान्य

१. मेटाफ़िज़िका, ९८० ए, १

२. मेटा०, ९८२ ए, २१: ३०: ९८२ बी, ५; ७

का ज्ञान है। इसका ज्ञान हो जाने से उन सभी दृष्टान्तो का ज्ञान हो जाता है जो इससे अनुशासित है। इस ज्ञान को वह समस्त ज्ञेय वस्तुओ मे से श्रेष्ठतम का ज्ञान कहता है, क्योंकि दर्शन की ज्ञेय वस्तु सपूर्ण प्रकृति की प्राप्य वस्तु है। वह समस्त ज्ञान की आधारभूमि है और उसी मे ससार के आदि कारण का ज्ञान निहित है।

पूर्ववर्ती मतों का सिहावलोकन

अरस्तू ने आद्योपान्त ऐतिहासिक विधि का प्रयोग किया है। इसे वह अपनी दार्शनिक समस्या के सुलझाने मे भी काम मे लाता है। पूर्ववर्त्ती दार्शनिको के मतो पर दृष्टि डालकर वह बतलाता है कि उनके मस्तिष्क मे कारणो का ज्ञान स्पष्ट न था, यद्यपि उन्होने स्पष्ट रूप से बहुत सी जानने योग्य बाते कह डाली थी। भौतिक दर्शनो के संस्थापको ने अपने चार भूतो के विचार मे पदार्थ अथवा उपादान कारण की कल्पना की थी। किन्तु इसी मे गति (Movement) की समस्या छिपी थी। लकडी, काँसा आदि उपादान अपने को किसी वस्तु में नही बदल सकते। अरस्तू का कहना है कि इसकी समुचित व्याख्या न कर पाने पर, उन्होने यह कहकर काम चलाया था कि प्रकृति मे परिवर्त्तन ही नही होते।[1]

हरमोटिमस, एनेक्जागोरस और पारमेनाइडीज ने गति के कारण की समस्या को दूसरे दार्शनिको की तुलना मे अधिक स्पष्ट किया था। अरस्तू का कथन है कि एनेक्जागोरस ने हरमोटिमस से अपने विचार प्राप्त किये थे।[2] एनेक्जागोरस के 'नाउस' की कल्पना वस्तुओ को गति देनेवाली तथा उनकी व्यवस्था करनेवाली, 'चेतन सत्ता' (Conscions Existence) की कल्पना थी। पारमेनाइडीज के इस कथन को कि सबसे पहले 'प्रेम' उत्पन्न हुआ, अरस्तू गति के कारण की ही अस्पष्ट चेतना मानता है।

लक्ष्य का संकेत अरस्तू के विचार से एम्पीडॉक्लीज के कथनो मे निहित

१. मेटाफ़िज़िका, ९८३ बी, २०-९८४ ए, ३०
२. मेटा०, ९८४ ए, १८

है ।[1] इस विचारक ने शुभ और अशुभ को वस्तुओं का सार कहा था । अरस्तू का कहना है कि एक शुभ में सभी शुभों का पर्यवसान होने से, एम्पीडाक्लीज को लक्ष्य के विचार का जन्मदाता मानना चाहिए । पर इन सभी विचारको को अरस्तू अशिक्षित सैनिक कहता है, जो बिना किसी योजना के शत्रु के दल मे घुस जाते हैं और अकस्मात् कहीं सूझ गया तो दो-चार बढ़िया हाथ भी मार देते हैं ।

अरस्तू के विचार से 'आकृति' की ओर प्लेटो का ध्यान गया था ओर इसे उसने अपने 'प्रत्ययों' के सिद्धान्त में व्यक्त किया था। अरस्तू ने मेटाफिजिका मे प्लेटो के मत की सक्षिप्त व्याख्या देकर विस्तृत आलोचना की है । इसी से प्रारंभ कर हम अरस्तू के दर्शन मे प्रवेश कर सकते है ।

अरस्तू के अनुसार प्लेटो का प्रत्यय सिद्धान्त[2]

अरस्तू का कथन है कि सुकरात ने पहले-पहल अपनी परिभाषा-पद्धति से नैतिक कर्मो में एक सामान्य की खोज प्रारभ की थी । प्लेटो ने इसी पद्धति के प्रयोग से प्रकृति के सामान्य को खोजने का प्रयत्न किया । प्लेटो ने संवेद्य (Sensibele) वस्तुओ की परिभाषाएं सभव न पाकर यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि वस्तुओ मे न रहकर, सामान्य 'प्रत्ययो' मे रहता है । किन्तु उसने सवेद्य वस्तुओं और उनके प्रत्ययो मे सम्बन्ध स्थापित करने के अभिप्राय से यह माना था कि वस्तुएँ, प्रत्ययों के स्वभाव का भाग प्राप्त करने से, अस्तित्ववान् होती हैं ।

प्लेटो के इन विचारों में अरस्तू को पाइथागोरस के मत की छाप दिखाई दी । उसके विचार से प्लेटो ने 'सख्या' न कहकर वस्तुओ के मौलिक आकारो को 'प्रत्यय' अथवा 'विचार' कहा था । वस्तुओ और प्रत्ययो के अतिरिक्त, प्लेटो ने इनके बीच के स्वभाव की वस्तुओ की भी कल्पना की थी । ये गणित की नित्य वस्तुएँ है, जिनमें कभी कोई परिवर्तन होता ही नही । किन्तु इनका

१. मेटा०, ९८५ ए, १-९

२ मेटा० पु० ए अ० ६ ९८७ बी ५- ९८८ ए ७-१२

स्वभाव प्रत्ययो से भिन्न है। वस्तुओं के प्रत्येक वर्ग का एक ही प्रत्यय होता है, जिसके स्वभाव का दूसरा कोई प्रत्यय नही होता। गणित की वस्तुओं में एक ही तरह की बहुत सी होती है। अरस्तू का कथन है कि प्रत्ययो के रूप मे प्लेटो ने वस्तुओं के सार की कल्पना की थी। वह कहता है कि प्लेटो ने सारभूत प्रत्ययों के आधार पर भी विचार किया था और कहा था कि वह 'एक' है। इस प्रकार अरस्तू को प्लेटो के प्रत्यय-सिद्धान्त मे अपने 'आकृति' और 'प्रकृति' के मत का प्रारम्भिक रूप मिला। अरस्तू ने भी तो अपने चार कारणो को दो में घटाया है, किन्तु प्लेटो के मत मे उसे कुछ अयुक्त विचार दिखाई दिये जिनकी उसने आलोचना की।[1]

प्रत्यय सिद्धान्त की आलोचना

अरस्तू का कहना है कि प्लेटो ने अनावश्यक रूप से वस्तुओ के प्रतिरूपों (Copies) की कल्पना की थी।[2] उसके विचार से यह कार्य उसी तरह का था जैसे थोड़ी होने से किसी को वस्तुओ के गिनने मे असुविधा जान पड़े और वह, उतनी ही वस्तुएँ और मिलाकर उन्हे दूनी कर ले। अरस्तू को प्रत्ययों की कल्पना से दूसरा कोई लाभ न दिखाई दिया। अरस्तू के कथन का अभिप्राय यह है कि वस्तुओं के स्वभाव का ज्ञान प्राप्त करने में 'प्रत्ययों' से कुछ भी सहायता नही मिलती। यह कह देना कि वस्तुओ के स्वभाव का सार प्रत्ययो मे है, उनके स्वभाव का ज्ञान नही करा देता है, केवल नाम की वृद्धि हो जाती है।

अरस्तू का कथन है कि दार्शनिक समस्या वस्तुओ मे होनेवाले परिवर्त्तनो का रहस्य समझने की, उनके पारस्परिक सम्बन्धो को समझने की तथा यह जानने की है कि परिवर्त्तनशील वस्तुओ मे कोई नित्य तत्त्व है, अथवा नही। किन्तु उनके विकास का कारण यदि उनसे अलग है, वस्तुएँ यदि प्रत्ययो के स्वभाव का असफल अनुकरण ही करती रहती है, तो प्रश्न ज्यो का त्यों बना रहता है कि वस्तुएं अपने आदर्श का अनुकरण करने का प्रयत्न करने की प्रेरणा

१. मेटा०, पुस्तक ए, अ० ९　　२. मेटा०, ९८० बी, १-३

यह है कि 'श्वेतता' को हम श्वेत वस्तुओ से अलग नही कर पाते। इस प्रकार वस्तुओ की परिभाषा करने मे गुण (Quality) और परिमाण (Quantity) का कथन कर दिया जाता है। किन्तु, यद्यपि गुण और परिमाण आदि अस्तित्वो का 'सत्ता' अथवा 'द्रव्य' से सम्बन्ध हो जाता है, ये 'द्रव्य का सार नही है, न उसके मूल-भूत स्वभाव के द्योतक है।

इस अन्तिम विचार से यह सकेत मिलता है कि व्यवहार मे, किसी द्रव्य से सम्बन्ध होने के कारण, अद्रव्य को भी उसका स्वभाव मान लिया जाता है। जैसे चिकित्सक को, उसकी दवा और उसके यन्त्रो आदि को एक ही विशेषण से सूचित किया जाता है। हम इन सबको एक ही वस्तु नही मान सकते, फिर भी प्रसंग की एकता के कारण उनको एक-सा मान लेते है। कभी-कभी बहुत से अवयवो मे पारस्परिक सम्बन्ध होने से, उन सबको मिलाकर एक वस्तु समझ लिया जाता है। अरस्तू ने 'इलियड' का उदाहरण दिया है। 'इलियड' होमर का एक महाकाव्य है, जिसमे बहुत सी घटनाओ का समुच्चय है, किन्तु इसे एक कहा जाता है।[1]

उचित विचार मे इन सब व्यावहारिक असगतियो को दूर करना होगा। तभी हम वस्तुओं के 'सार' अथवा मूलभूत स्वभाव को खोज सकेंगे। जटिल वस्तुओ के सार की खोज करने से वास्तविक सार नही मिल सकता।[2] जटिल वस्तुओ में विभिन्न प्रकार के अवयवो का समाहार होता है, किन्तु वे सभी वस्तु के अस्तित्व के लिए अनिवार्य नही है। जैसे 'गायक होना' मनुष्य के स्वभाव का अनिवार्य लक्षण नही है। बिना गायक हुए भी मनुष्य हो सकता है। इसी प्रकार गोरा, काला, लम्बा, चौड़ा आदि होना भी मनुष्य का स्वभाव नही।[3] स्वभाव से अरस्तू का तात्पर्य उस मूलभूत 'द्रव्य' से है, जिसके बिना किसी दी हुई वस्तु का अस्तित्व सभव न हो। 'सार' के कथन से 'द्रव्य' की ही परिभाषा होती है, जो सरल है, एक है और सभी भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व

१. मेटाफिजिका, १०२९ बी, १३–१०३१ ए, १०

२. मेटा०, १०३० ए, ५

३. मेटाफिजिका, १०३१ बी, २५; १००७ ए, ३०

का आधार है। इस प्रकार अरस्तू के चिंतन में वस्तुओं के मूलभूत स्वभाव की समस्या 'द्रव्य' की समस्या से सम्बद्ध हो जाती है।

द्रव्य का विचार

अरस्तू साधारण धारणाओं की असंगति दिखलाकर युक्तियुक्त विचार की स्थापना करना चाहता था। 'द्रव्य' के विचार में भी यही बात है। साधारण विचार में मनुष्य, घोडा आदि सभी वस्तुओं को सत्य वस्तु माना जाता है और इनके 'सार' की खोज की जाती है। प्लेटो ने भी इन्ही भौतिक वस्तुओं का सार निश्चित करने के लिए 'प्रत्ययो' को सत्य माना था। अरस्तू को यह विचार अयुक्त लगा कि वस्तुओं का सत्य उनसे अलग हो और वह इन्ही वस्तुओं में उनके 'सार' और 'द्रव्य' की खोज करने लगा।

अरस्तू के सार-सम्बन्धी विचार से मालूम हुआ था कि वस्तुओं का सार उनके 'द्रव्य' मे रहता है और यह 'द्रव्य' वस्तु के भौतिक अवयवो में नही है, न उनके समाहार मे है। 'द्रव्य' वस्तु के गुण और परिमाण आदि उपाधियो (Limitations) का आधार है, सरल है और वस्तु की परिभाषा मे इसी की परिभाषा होती है। परिभाषा के स्वरूप के विश्लेषण से अरस्तू यह भी निश्चित कर देता है कि 'द्रव्य' कभी भी परिभाषा व्यक्त करनेवाले वाक्य मे विधेय (Predicate) नही बन सकता। यह सदैव उद्देश्य ही बनता है। परिभाषा-सूचक वाक्य मे सार के कथन से 'द्रव्य' को ही सूचित किया जाता है। किन्तु इस कथन से यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि इन्द्रिय-संवेद्य वस्तुएँ 'द्रव्य' है।[1]

अरस्तू के ऊपर दिये हुए विचारो से ही इन्द्रिय-संवेद्य वस्तुओं का द्रव्य होना असिद्ध हो जाता है। 'द्रव्य' मे अवयव नही होते, वह सरल अस्तित्व है, किन्तु इन्द्रियो से जिन वस्तुओं का ज्ञान होता है, वे सरल नहीं है। अरस्तू इन वस्तुओं की परिभाषा सम्भव नही मानता था, क्योंकि ये परिवर्त्तनशील

१ मेटा० १०३७ ए २२—बी ५। भाग एच—६

हैं तथा विशिष्ट हैं। उसके मत मे विशिष्ट वस्तुओं का ज्ञान प्रतीति से होता है।[1] परिभाषा केवल सामान्य की ही सभव है।

अब बडी विचित्र स्थिति उत्पन्न होती है। एक ओर अरस्तू बतलाता है कि 'द्रव्य' का अर्थ वह वस्तु है, जो सभी विधेय-पदो का उद्देश्य हो सके, जिसमे एतावत्त्व हो और जो अपने आप स्थित रह सके। दूसरी ओर उसका कथन है कि परिभाषा के द्वारा केवल सामान्य का ज्ञान हो सकता है, विशिष्ट का नही। पर परिभाषा केवल 'द्रव्य' की ही सभव है।[2]

सामान्य का अद्रव्यत्व

वह स्पष्ट रूप से कहता है कि 'द्रव्य' सामान्य नही हो सकता। इसके समर्थन मे वह तीन युक्तियाँ देता है। सामान्य एक प्रकार की बहुत सी वस्तुओ मे व्याप्त रहता है, किन्तु 'द्रव्य' किसी वस्तु-विशेष मे ही रहता है।[3] 'द्रव्य' किसी उद्देश्य का विधेय नही बन सकता, किन्तु सामान्य को विधेय बनाया जा सकता है।[4] उसकी तीसरी युक्ति यह है कि सामान्य किसी एक वस्तु के लिए नही प्रयुक्त हो सकता।[5] अरस्तू के इन कथनो से ऐसा लगता है कि 'द्रव्य' किसी विशिष्ट वस्तु को ही माना जा सकता है।

अरस्तू के इस विवेचन मे हमे दो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं। पहला यह कि 'द्रव्य' मे एकत्व (Unity) और विशिष्टत्व (Particularity) होना चाहिए, और दूसरा यह कि सामान्य न होते हुए भी सामान्य परिभाषा के द्वारा उसका ज्ञान होना चाहिए। अरस्तू का प्रयत्न यह दिखलाने का है कि प्रकृति मे जो वस्तुएँ है, उनमे एक सामान्य तत्त्व निहित है जो वस्तुओ से पृथक् सत्ता रखने पर भी विशिष्ट वस्तु का 'द्रव्य' बन जाता है। इसे समझने के लिए अरस्तू का वस्तुओं का विभाजन, प्रकृति और आकृति का भेद तथा सामर्थ्य और वास्तविकता का सम्बन्ध समझने की आवश्यकता है।

१. मेटाफ़िज़िका, १०३६ ए, १। २. मेटा०, १०३१ ए, १
३. मेटा०, १०३८ बी, १०। ४. मेटा०, १०३८ बी, १५
५. मेटा०, १०४१ ए, ५

प्राथमिक तथा द्वितीय प्रकार के द्रव्य

अरस्तू के लिए 'सार' और 'द्रव्य' की एकता दिखाना उतना ही आवश्यक था, जितना दोनों में भेद करना। इसके लिए, उसने द्रव्यो को दो वर्गो मे बाँटा था। प्राथमिक द्रव्य वे है, जिनमे 'सार' और 'द्रव्य' का अंतर नही होता।[1] ऊपर कहा जा चुका है कि 'द्रव्य' का ज्ञान 'सार' के कथन से होता है, किन्तु यदि सार द्रव्य से अलग होता तो यह समझ पाना कठिन होता कि सार के ज्ञान से द्रव्य का ज्ञान होता है। फिर, अलग अस्तित्व होने पर सार स्वय ही एक प्रकार का द्रव्य हो जाता और उस दशा मे सार के ज्ञान के लिए उसके भी सार को खोजना पडता, जिससे सार के विचार मे अनवस्था दोष आ जाता। इतना ही नही, द्रव्य और सार मे भेद कर देने से द्रव्य का स्वभाव उसके सार मे न पाया जाता। वह कहता है कि यदि शुभ का सार शुभ न होता, तो वास्तविकता का सार वास्तविक और इकाई का सार एक न हो पाता।[2]

पर दोनों को अलग करना भी अरस्तू को आवश्यक समझ पडा। बिना 'द्रव्य' से अलग हुए 'सार' किसका सार होगा? कोई भी सार अपने से भिन्न वस्तु का ही सार हो सकता है। तभी यह जिज्ञासा सार्थक भी हो सकती है कि अमुक वस्तु का सार क्या है? इन्ही दोनो आवश्यकताओ से वाध्य होकर उसने 'द्रव्य' के दो भेद किये—प्राथमिक तथा द्वितीय। प्राथमिक द्रव्य मे सार और द्रव्य का भेद नही है। अरस्तू के उदाहरण मे आत्मा प्राथमिक द्रव्य है, शरीर प्रकृति है और मनुष्य दूसरे प्रकार का द्रव्य है।[3] इस कथन से यह अनुमान किया जा सकता है कि अरस्तू के विचार से द्वितीय प्रकार के द्रव्यो मे प्रारभिक द्रव्य और प्रकृति का सयोग हो जाता है। ये सचमुच द्रव्य नही है, किन्तु इन्हें द्रव्य इसलिए माना जाता है कि ये अपने समान वस्तुओ को उत्पन्न करते हैं। मनुष्य से मनुष्य की उत्पत्ति होती है, इनमे पिता-पुत्र का सम्बन्ध होने से सापेक्ष अर्थ मे इन्हे द्रव्य कहा जाता है।[4]

१. मेटाफ़िजिका, १०३७ बी, १
२. मेटा०, १०३१ बी, ८
३. मेटा०, १०३७ ए, ५
४. मेटा० १०३७ ए, ८

अरस्तू के इस विचार का स्पष्ट अर्थ यह है कि इन्हें द्रव्यवत् व्यवहार करने से द्रव्य कह दिया जाता है।

प्रकृति और आकृति

अरस्तू के उपर्युक्त विवेचन से सहायता लेकर, उसके 'द्रव्य' का अर्थ समझने का प्रयत्न करने पर, हमारा ध्यान 'आकृति' की ओर जाता है। वह आत्मा को प्राथमिक 'द्रव्य' कहता है और उसे मनुष्य की आकृति भी कहता है, क्योंकि वह इसी आत्मारूपी द्रव्य और शरीररूपी प्रकृति के संयोग से मनुष्य की उत्पत्ति बतलाता है। अपने भौतिक शास्त्र में निश्चित किये हुए चार कारणों को वह 'मेटाफिजिका' में दो ही में घटा देता है।[1] यहाँ वह उत्पत्ति का अर्थ किसी प्रकृति में कोई आकृति उत्पन्न करना मानता है। वह कहता है कि न तो हम गोला बना सकते हैं, न काँसा बना सकते हैं, पर काँसे का गोला बना सकते हैं। इस कलात्मक उत्पत्ति में बनानेवाला केवल निमित्त है, जो दिये हुए पदार्थ में एक आकृति उत्पन्न कर देता है।[2]

प्राकृतिक वस्तुओं और कलाकृतियों में अरस्तू निमित्त का अंतर मानता था। कलाकृतियाँ तभी उत्पन्न होती हैं, जब कलाकार किसी पदार्थ में गति उत्पन्न करता है। प्राकृतिक उत्पादन में गति का स्रोत वस्तु से अलग नहीं रहता, क्योंकि यहाँ पर गति उत्पन्न करनेवाली प्रकृति है, जो वस्तुओं में परिवर्तन उत्पन्न कर अपने आंतरिक उद्देश्यों को प्राप्त करती है। इस प्रकार सभी वस्तुओं में, चाहे वह प्रकृति से उत्पन्न हों, चाहे कला के द्वारा, दो तत्त्व होते हैं—प्रकृति और आकृति।

अरस्तू पदार्थ को द्रव्य नहीं मानता था; दोनों में कुछ साम्य अवश्य मानता था।[3] उसका कहना है कि पदार्थ की कोई परिभाषा संभव नहीं है। यदि किसी वस्तु में से उष्ण, शीत आदि सभी गुण निकाल दिये जायें, तो पदार्थ

१. मेटा०, १०४४ ए, ३२-३७
२. मेटा०, १०३३ ए, २३-बी, १८
३. मेटा०, १०२८ बी, ३५-१०२९ ए, ३५

कहलानेवाली कोई वस्तु नही बचेगी। पदार्थ की कल्पना केवल गुणो के आधार की आवश्यकता से बाध्य होकर कर ली जाती है। किन्तु पदार्थ का न कोई आकार है, न अपना अलग अस्तित्व है। 'यह' कहकर पदार्थ की ओर सकेत किया ही नहीं जा सकता, तब वह 'द्रव्य' कैसे हो सकता है। पदार्थ कहलानेवाला तत्त्व वास्तविक वस्तुओ की 'संभावना' अथवा प्रकृति है। आकृति वह वास्तविकता है जो इस संभावना के साथ संयुक्त होकर उसे वस्तु मे परिणत करती है।

सामर्थ्य और वास्तविकता

अरस्तू का प्रकृति और आकृति का भेद समझने के लिए उसके सामर्थ्य और वास्तविकता-सम्बन्धी विचारो को समझने की आवश्यकता है। वह बार-बार इस बात पर जोर देता है कि हम प्रकृति और आकृति को अलग नही कर सकते, केवल दोनो को स्थूल वस्तुओं में ही पा सकते है। फिर भी वह इन दोनो मे भेद करता है और प्रकृति को केवल विचार की आवश्यकता से अस्तित्व मानता है, जब कि आकृति मे वह द्रव्यत्व मानता है। अरस्तू का अर्थ समझने के लिए आवश्यक है कि उसकी प्रकृति और आकृति को दो सूक्ष्म तत्त्वो के रूप मे देखा जाय।

अरस्तू प्राकृतिक वस्तुओ के निरीक्षण से, उनमे व्याप्त स्थायी तत्त्व अथवा 'द्रव्य' की खोज कर रहा था। वह समझता था कि वस्तुओ मे कोई नित्य तत्त्व अवश्य छिपा है, क्योंकि वह यह नही मान सकता था कि इतनी विस्तृत प्रकृति सारहीन वस्तुओ से बनी है। विचार करने पर उसे ऐसा लगा कि समस्त प्रकृति का सार एक ही हो सकता है और इसलिए उसमे 'एतावत्त्व' होना चाहिए। फिर वह सोचता था कि यदि उक्त सार सामान्य नही है, तो उसके कथन से वस्तुओ की परिभाषा कैसे होगी!

इस गुत्थी को अरस्तू ने दो प्रकार से सुलझाने का प्रयत्न किया। एक बार उसने कहा कि वस्तुओ की जो आकृति है अथवा उनका जो रूप है, वही उनका 'द्रव्य' अथवा 'सार' है। किन्तु आकृति के लिए प्रकृति चाहिए, इसलिए उसने प्रकृति को आधारभूत कारण मानकर उसकी नित्यता का निराकरण कर दिया क्योंकि किसी वस्तु मे दो 'द्रव्य' नही रह सकते।

दूसरी बार उसने दिखलाया कि प्रकृति और आकृति मे कुछ एकता है। इसे उसने सामर्थ्य और वास्तविकता के भेद से स्पष्ट किया।[1] प्रकृति में आकृति ग्रहण करने की सामर्थ्य है[2] किन्तु आकृति वह वास्तविकता है, जिसे ग्रहण करने मे मूल प्रकृति वस्तु हो जाती है। इसी प्रकार एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है, किन्तु वह सामर्थ्य तभी सार्थक होती है, जब वह वास्तविकता मे परिणत हो जाती है। अरस्तू ने इन दोनो दशाओ के विविध उदाहरण दिये है। मनुष्य में ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य है, किन्तु वह तब तक निरर्थक है, जब तक वास्तविक ज्ञान प्राप्त न किया जाये। अरस्तू को उत्पन्न वस्तु और उसकी सभावना में विकास के स्तर का भेद सर्वत्र दिखाई दिया। इसी को उसने प्रकृति और आकृति कहकर तथा सामर्थ्य और वास्तविकता कहकर व्यक्त किया।

इस भेद को कई रूपो मे समझने की आवश्यकता है। प्रकृति में निरतर सामर्थ्य से वास्तविकता का विकास होता रहता है, किन्तु सामर्थ्य नही वास्तविकता ही प्राथमिक है।[3] वास्तविकता का प्राथमिक अस्तित्व न होता तो सामर्थ्य उसे उत्पन्न न कर पाती। वास्तविक मनुष्य न होता तो उसमे दूसरा वास्तविक मनुष्य उत्पन्न करने की सामर्थ्य न होती। उत्पादक में उत्पादन की सामर्थ्य होती है, किन्तु इसलिए कि उत्पादन की वास्तविकता उसमे स्वाभाविक है। पर वह पूरी वस्तु को नित्य नही मान सकता था, क्योकि नित्य वस्तु मे परिवर्त्तन नही होते और न उसकी उत्पत्ति होती है। उसका विनाश भी नही होता। इसी लिए उसने आकृति और प्रकृति का अन्तर अथवा अनित्य और नित्य तत्त्वो का भेद बताते हुए वस्तुओ मे उनका अनिवार्य सम्बन्ध दिखाया था।

सामर्थ्य और वास्तविकता के आधार पर अरस्तू ने वस्तुओ को श्रेणियो मे बाँट दिया था। जिनमे सामर्थ्य अधिक और वास्तविकता कम है, वे निम्न-श्रेणी के अस्तित्व है, अथवा इस प्रकार कहे कि जिनमे सामर्थ्य है, किन्तु वह

१. मेटा०, भाग 'लैम्दा', अ० २; भाग 'एच', अ० २

२. मेटा०, १०५० ए, १५

३. मेटा०, भाग 'थीता', अ० ८

बहुत ही कम वास्तविकता मे परिणत हो पाती है। इस विचार से प्रकृति की वस्तुओं से आकाश के पिड अधिक वास्तविक है। उनमे केवल चक्राकार गति होती है और कोई परिवर्तन नही होता। उनकी न उत्पत्ति होती है और न विनाश होता है। सबसे वास्तविक ईश्वर है। ईश्वर की कोई सामर्थ्य ऐसी नही है, जिसे वह वास्तविक रूप मे न रख सकता हो। अरस्तू का सामर्थ्य और वास्तविकता का विवेचन धीरे-धीरे ईश्वर सम्बन्धी विवेचन में बदल जाता है।

ईश्वर-सम्बन्धी विचार

अरस्तू ने उत्पत्ति के चार कारण माने थे—प्रकृति, आकृति, निमित्त और लक्ष्य। विचार करने पर उसने वस्तुओ मे केवल दो ही पाये—प्रकृति और आकृति। सभी प्राकृतिक वस्तुएँ किसी प्रकृति मे किसी आकृति का संयोग होने से उत्पन्न होती हैं। प्राकृतिक वस्तुओं में गति का स्रोत नही है। वे प्रकृति से आन्दोलित होती हैं। गति का स्रोत आकाश है। वही प्राकृतिक वस्तुओं का निमित्त है। किन्तु सम्पूर्ण प्रकृति का लक्ष्य कहाँ है? प्रकृति अपनी सामर्थ्य मे विकास करते-करते किसे प्राप्त करना चाहती है? अरस्तू के सामर्थ्य और वास्तविकता के विवेचन से पता लगता है कि वास्तविक रूप में सामर्थ्य ईश्वर मे है। प्रकृति का समस्त प्रयत्न अपनी समस्त सामर्थ्य को वास्तविकता में परिणत कर, ईश्वर को ही प्राप्त करने का है।

अरस्तू के दर्शन मे ईश्वर का प्रसग व्यक्त रूप से बहुत कम आया है, किन्तु उसके सम्पूर्ण विज्ञान और दर्शन का आशय ईश्वर की सिद्धि करना ही मालम होता है। गति की समस्या को लेकर उसने दिखलाया कि जगत् मे एक वस्तु दूसरी मे गति उत्पन्न करती है। इससे उसने एक ऐसे चालक की आवश्यकता का समर्थन किया, जो किसी दूसरी वस्तु के द्वारा चालित न हो। इसे उसने आकाश कहा था और 'ईथर' से बना हुआ बतलाया था। मेटा-फिजिका में उसने दो बाते ऐसी कही हैं, जिनसे यह अनुमान करना आवश्यक हो जाता है कि आकाश प्रथम नही है। एक तो वह यह कहता है कि प्राथमिक द्रव्य मे पदार्थ नही होता दूसरी यह कि मल कारण वही हो सकता है जो

पूर्ण सत्य में अवस्थित हो।[1] आकाश में पदार्थ का संयोग है, क्योंकि ईथर, पृथ्वी आदि चार भूतों (Physical Elements) से भिन्न होने पर भी, पदार्थ ही है और वह पूर्ण सत्य नहीं है, क्योंकि अभी ऊपर कहा जा चुका है कि आकाश भौतिक वस्तुओं की अपेक्षा अधिक वास्तविक है, पर उसमें भी सामर्थ्य का अंश है।

अरस्तू ने एक प्रसंग में कहा है कि उसके पूर्वज आकाश-पिंडों को देवता मानते थे, किन्तु उसने यह भी कहा है कि बहुत्व में पदार्थ होना अनिवार्य है।[2] इसलिए आकाश को, जो पिंडों का आधार है, मूल अस्तित्व मानना उचित न होगा। वह कहता है कि प्रथम कारण अथवा प्रथम सत्ता (Existence) में गति नहीं हो सकती। वह केवल प्राथमिक गति उत्पन्न कर सकता है।[3] भौतिक शास्त्र के अंतर्गत कहा जा चुका है कि प्राथमिक गति चक्राकार गति है। इन दोनों विचारों को एकत्र करने से स्पष्ट होता है कि प्राथमिक सत्ता, जो प्राथमिक गति का कारण है, प्राथमिक गति करनेवाले से भिन्न है। यहाँ भी ईश्वर का ही संकेत है। अरस्तू के अनुसार, प्रथम गति प्रेम से उत्पन्न हुई।[4]

प्रथम चालक (First Mover) की चर्चा करते हुए अरस्तू ने मेटाफिजिका में कहा है कि वह अनिवार्य रूप से स्थित है। यहीं पर अनिवार्य स्थिति का अर्थ स्पष्ट करते हुए वह कहता है कि अनिवार्य रूप से वही स्थित हो सकता है, जो प्राकृतिक आन्दोलनों से विरुद्ध स्वभाव का हो और सदा एक ही प्रकार से स्थित रहता हो।[5] इससे भी ईश्वर का ही अनिवार्य रूप से होना सिद्ध होता है। आकाश तो एक ही प्रकार से स्थित नहीं रहता, क्योंकि वह घूमता रहता है।

अन्त में वह ईश्वर के स्वभाव के सम्बन्ध में दो प्रसंगों में बतलाता है कि वह चेतन (Conscious, Intelligent) सत्ता है। इनमें से प्रथम प्रसंग में वह स्पष्ट रूप से कहता है कि इसी सत्ता पर आकाश और प्रकृति दोनों निर्भर

१. मेटा०, १०७१ ए, ३५। २. मेटा०, १०७४ बी, १
३. मेटा०, १०७३ ए, २४। ४. मेटा०, १०७२ बी, ५ से ऊपर
५. मेटा०, १०७२ बी, ५-१२

है।[1] ईश्वर को चेतन सत्ता बतलाते हुए वह ईश्वर मे विचार और विचार के विषय का तादात्म्य दिखलाता है।[2] वह कहता है कि ईश्वरीय विचार की समस्या बहुत दुरूह है। यदि वह कुछ नही सोचता है, तो वह आलसी मनुष्य की भाँति पड़ा सोता रहता है, जो ईश्वर की शान के खिलाफ़ है। किन्तु यदि वह अपने से भिन्न वस्तु के विषय मे सोचता है, तो वह वस्तु ईश्वर से अधिक मूल्यवान् होगी, जिसके विषय में ईश्वर सोचता रहता है। इस प्रकार उसने यह तय किया कि ईश्वर अपने ही विषय मे सोचता रहता है। ठीक भी है, जब वह सभी कारणो का कारण है, ससार की आदि सत्ता है, उससे सम्पूर्ण प्रकृति की वास्तविकता वर्त्तमान है, तब वह अपने से भिन्न किस वस्तु का चिंतन करेगा।

इस चिंतनशील ईश्वर के विषय मे अरस्तू का कथन है कि वही सम्पूर्ण जगत् का शुभ है। वह नित्य है, शाश्वत है और उस आनन्द मे निरंतर लीन रहता है जिसकी एक साधारण झलक हम मनुष्यो को कभी-कभी थोड़ी देर के लिए मिल पाती है। ईश्वर में अरस्तू जीवन का भी आरोप करता है, क्योंकि उसके विचार से जीवन ही चिंतन की वास्तविकता है। किन्तु ध्यान रहे कि वह ईश्वर को मनुष्यो की भाँति नही मानता। वह पहले ही कह चुका है कि प्रथम द्रव्य मे अवयव नही होते। वह विशिष्ट है, क्योकि उसके समान दूसरा कुछ नही है। परिभाषाएँ सभी उसी की ओर संकेत करती है, क्योकि सबमे व्याप्त होने से वह उच्चतम सामान्य है।[3]

उपसंहार

अरस्तू के दर्शन-सम्बन्धी सपूर्ण विवेचन पर दृष्टि डालकर, यदि हम एक बार फिर प्रश्न करें कि 'द्रव्य' क्या है ? तो उत्तर मिलेगा कि सच्चे अर्थ में अरस्तू के द्रव्य-सम्बन्धी विचार ईश्वर पर ही घटित होते है। द्रव्य के सम्बन्ध मे अरस्तू ने बतलाया था कि वह उत्पत्ति और विनाश के क्रम से

१. मेटा०, १०७२ बी, १३ २. मेटा०, १०७४ बी, १५–१०७५ ए, १०
३. मेटा०, १०७२ बी, १५-२९

पृथक् है। उसमे न तो अवयव है और न वह अवयवो का समूह है। सत्, द्रव्य मे प्रकृति और आकृति का भेद नही है। परिवर्त्तनो से वह प्रभावित नहीं होता और उसकी अलग, स्वतत्र सत्ता है, फिर भी वह किसी न किसी रूप मे वस्तुओं से सम्बन्ध रखता है। ये सभी विशेषताएँ ईश्वर को द्रव्य मानने पर उसमे मिल जाती है। किन्तु अरस्तू की सबसे बडी समस्या यह दिखलाने की थी कि प्रकृति सत्य से शून्य, एकदम खोखली नहीं है। इसी लिए तो उसने प्लेटो के प्रत्यय-सिद्धान्त का विरोध किया था।

प्लेटो के प्रत्यय-सिद्धान्त से सकेत लेकर ही तो उसने अपना आकृति का सिद्धान्त बनाया था। प्लेटो के प्रत्ययो को वह बार-बार आकृति कहता है, किन्तु साथ ही यह सूचित करता है कि प्लेटो की आकृतियाँ वस्तुओं से अलग है, इसलिए उनके रहते हुए भी वस्तुएँ सारहीन रह जाती है। प्लेटो ने प्रत्ययों को वस्तुओं का आदर्श बतलाया था, पर यह नही बतलाया था कि वे किसके प्रत्यय है। किसी मन की कल्पना के बिना प्रत्ययो की कल्पना निराधार ही रहती है। अरस्तू ने ईश्वर को चेतन कहकर सकेत किया कि नित्य आकृति ईश्वर के चिंतन से उद्भूत होती है। एक स्थान पर उसने यह भी कहा है कि इन्द्रिय-संवेद्य वस्तु का नाश हो जाने पर भी, आकृति अवशिष्ट रह जाती है और इसी से वह वस्तु के ज्ञान का माध्यम बनी रहती है। इस प्रकार ईश्वर के रूप मे एक निरपेक्ष मन की कल्पना कर, उसने प्लेटो के प्रत्यय-सिद्धान्त को युक्तियुक्त बनाने का प्रयत्न किया। साथ ही यह कहने का प्रयत्न किया कि प्रकृति के परिवर्त्तनो की तह मे एक स्थायी द्रव्य है।

गौण अथवा सापेक्ष अर्थ मे उसने उन सभी वस्तुओं को द्रव्य कहा, जो पदार्थ में आकार उतर आने से बन जाती है। उसके कथन का अभिप्राय यही था कि पदार्थ नश्वर है, विकारवान् है, वह स्थायी द्रव्य नही हो सकता, किन्तु उसमें आकृति का अश स्थायी है, सामान्य है और वस्तु के नष्ट होने के साथ ही नष्ट न होने से 'द्रव्य' है। द्रव्य का अलग अस्तित्व न होने से जिससे उसका सयोग होता है उस पूरी वस्तु को द्रव्य समझ लिया जाता है। इस प्रकार अंश का पूरे व्यक्ति पर आरोप हो जाता है। इन सयुक्त द्रव्यो में अपूर्णता

यही है कि उनमे सामर्थ्य और वास्तविकता का मेल है, अनित्य और नित्य का सम्मिश्रण है।

अरस्तू ने द्रव्य के इस सापेक्ष विचार से भौतिकवादियो (Materialists) के मत को उचित स्थान दिया। उसने यह न कहा कि पदार्थ कुछ भी नही है। वस्तु-जगत् मे, आधार-भूत प्रकृति के रूप मे पदार्थ की भी सत्ता है, किन्तु वह प्राथमिक नही है। प्राथमिक आकृति है, जिसकी वास्तविकता को पाकर पदार्थों मे छिपी हुई प्रकृति वास्तविक हो जाती है। इस प्रकार अरस्तू ने अपने दर्शन के द्वारा सपूर्ण प्रकृति तथा उसके विशिष्ट अंगो के सत्य की, ईश्वर और उसके विचारो के रूप मे स्थापना की।

अध्याय ९

नीतिशास्त्र

व्यावहारिक विज्ञान

प्रारभ मे कहा जा चुका है कि अरस्तू ने विज्ञानो के दो विभाग किये थे—एक विभाग सैद्धान्तिक विज्ञानों का और दूसरा व्यावहारिक विज्ञानों का। सैद्धान्तिक विज्ञान उसने उन वैज्ञानिक अध्ययनो को कहा था जिनका उद्देश्य अपने क्षेत्र में सम्मिलित वस्तुओं का ज्ञान करा देने से पूरा हो जाता है। प्रस्तुत पुस्तक मे, भौतिक विज्ञान से दर्शन तक, अरस्तू के विज्ञानो के इस विभाग का विवरण पूरा हो गया है। अब इस अध्याय से अत तक जिन शास्त्रो अथवा विज्ञानो की बात की जा रही है, वे अरस्तू के व्यावहारिक विज्ञान के विभाग मे आते है। पहले विभाग मे इस विभाग का सबसे बडा अतर यह है कि इस विभाग मे आनेवाले विज्ञानो के विवेच्य विषयों की जानकारी से अध्ययन का उद्देश्य पूरा नहीं होता। कारण यह है कि ये विज्ञान किसी न किसी रूप में कर्म की व्याख्या करते हैं। कर्म की व्याख्या समझ लेना पर्याप्त नहीं होता। इन विज्ञानो का उद्देश्य तभी पूरा होता है, जब इनके अंतर्गत आनेवाले कर्मों की प्रकृति समझकर तदनुकूल आचरण किया जाय। फलत इन विज्ञानो की व्याख्याओं का उद्देश्य कर्म-सबंधी उपदेश होता है। कर्म-संबधी उपदेश निहित रहने से इन्हें 'कला' भी कहा जाता है।

अरस्तू के इस विभाग मे चार अध्ययन सम्मिलित है। नीतिशास्त्र का उद्देश्य उन कर्मो का उपदेश करना है, जिनका अभ्यास कर व्यक्ति अपने जीवन मे सुख और सफलता का अनुभव तो कर ही सकता है, साथ ही समाज का अच्छा सदस्य और राष्ट्र का अच्छा नागरिक बन सकता है। इस अध्ययन को अरस्तू राजनीतिशास्त्र के अतर्गत समझता था, क्योकि राज्य पर ही नागरिको की शिक्षा का तथा उनके आचरण के नियंत्रण का उत्तरदायित्व

रहता है। अरस्तू ने व्यावहारिक विज्ञानो में संभाषण कला तथा साहित्य-शास्त्र को भी स्थान दिया था। उसके समय मे संभाषण का प्रयोग न्यायालयो तथा राजकीय सभाओ मे ही होता था। इसलिए इसका भी सबध उसने राजनीतिशास्त्र से ही माना था। साहित्य मे उस समय दो ही अग थे—काव्य और नाटक। इनमे चरित्र-चित्रण की ही प्रधानता थी। इसलिए अरस्तू इसे नीतिशास्त्र से सबद्ध मानता था। इस प्रकार, अरस्तू के विज्ञानों के इस समूह मे राजनीति-शास्त्र ही प्रमुख विज्ञान ठहरता है। किन्तु अरस्तू राजनीतिक जीवन को उच्चतम नही मानता था।

तीन प्रकार के जीवन

अरस्तू के एथिका निकोमैकिया (निकोमैकीय नीति) नामक ग्रथ मे तीन प्रकार के जीवन[1] का उल्लेख मिलता है। निकृष्ट जीवन उन लोगो का है, जो सुख और दुःख के संवेदो के आधार पर कर्म करते है। इनके लिए वही कार्य शुभ है, जिनमे ऐंद्रियक सुख प्राप्त हो। ऐसे लोगो को वह अशिक्षित कहता था। इनसे उन्नत जीवन उन लोगो का है, जो सम्मान को अपने जीवन का लक्ष्य मानते है। अरस्तू इस प्रकार के जीवन को राजनीतिक जीवन कहता था। उसके इस कथन से यह संकेत मिलता है कि उसके समय के राजनीतिक जीवन मे सम्मान की आकाक्षा प्रधान थी। अरस्तू इस प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए कहता है कि सम्मान की आकांक्षा सूचित करती है कि वह व्यक्ति अपनी अच्छाई का प्रमाण चाहता है। यदि ऐसा है तो क्यो न उस अच्छाई को ही ध्येय बना लिया जाय, जिसे प्रमाणित करने के लिए सम्मान की आकाक्षा की जाती है। फिर, इस प्रकार के जीवन मे एक कमी यह भी है कि सम्मान के लिए दूसरो का मुँह देखना पड़ता है।

अरस्तू को दार्शनिक का जीवन सब प्रकार से सपन्न मालूम हुआ।[2] इस जीवन मे चितन ही प्रधान कार्य है। दार्शनिक जो भी करता है, चितन के

१. अशिक्षित, राजनीतिक और चितन-प्रधान (देखिए, एथिका निकोमैकिया, पु० १, अ० ५)

२ एथिका निको०, १० ७

आधार पर करता है। उसी का पूर्ण जीवन है, क्योंकि चिंतन ही ऐसा कार्य है जिसे अपने आप किया जा सकता है। अन्य सभी जीवन अपूर्ण है। न्याय-कर्त्ता तभी न्याय कर सकता है, जब दो व्यक्तियों में किसी प्रकार का मतभेद हो, वीर पुरुष वीरता तभी दिखा सकता है, जब किसी की रक्षा करनी हो। किन्तु विचारक को विचार करने के लिए किसी अन्य व्यक्ति की अथवा वस्तु की कोई आवश्यकता नहीं, वह अकेले ही चिंतन में मग्न रह सकता है। इस क्रिया में अवरोध की कोई गुंजाइश नहीं क्योंकि विचारक को अपनी तल्ली-नता में इतना सुख मिलता है कि वह निरंतर चिंतन में लगा रहना चाहता है।

इन सब विशेषताओं को देखकर अरस्तू ने इसी जीवन को आदर्श जीवन कहा। पर अरस्तू जानता था कि यह जीवन सबके लिए सुलभ नहीं है। इसलिए एक सीढ़ी नीचे उतरकर उसने सामान्य नागरिक की आचरण-संबंधी समस्याओं पर विचार करना प्रारंभ किया।

उसने देखा कि सामान्य जीवन में किसी युक्तियुक्त विचार के आधार पर कर्म नहीं किये जाते। लोग सम्मान चाहते हैं, पर यह नहीं जानते कि वे कौन से कर्म हैं, जिनके अभ्यास से उन्हें अवांछित रूप से सम्मान प्राप्त हो सकता है और न यही जानते हैं कि कर्म का अभ्यास किस प्रकार किया जा सकता है। इन्हीं लोगों के पथ-प्रदर्शन के निमित्त अरस्तू ने आचरण (Conduct) की समस्याओं पर विचार किया।

शुभ और परम शुभ

अरस्तू ने सबसे पहले शुभ और परम शुभ का अंतर[1] स्पष्ट किया। उसने बताया कि कोई भी कार्य बिना किसी उद्देश्य के नहीं किया जा सकता। वह उद्देश्य ही, जिसे लक्ष्य कर कोई कर्म किया जाता है, शुभ[2] है। परन्तु जीवन कर्मों की शृंखला है। इसमें एक शुभ की प्राप्ति दूसरे शुभ की प्राप्ति

१. शुभ (Good) और परम शुभ (Highest Good) के अंतर पर देखिए, एथिका निकोमैकिया, पु० १, अ० १ और २

२. एथिका निको०, १०९४ ए, २

का आधार बन जाती है। इस प्रकार कर्म की शृंखला का विकास होता रहता है। जिस शुभ को साध्य मानकर अभी हम कर्म कर रहे हैं, वही आगे चलकर किसी अन्य शुभ की प्राप्ति मे साधन बनेगा। ऐसी दशा मे किसी ऐसे शुभ को, जो स्थायी रूप से शुभ नही है, जीवन का अंतिम लक्ष्य नही बनाया जा सकता, अथवा उसे परम शुभ नही कहा जा सकता है। परम शुभ[1] (Summum bonum) वही शुभ हो सकता है जिससे बढकर कोई लक्ष्य न हो और जो प्राप्त हो जाने पर, अकेला ही जीवन को सुखमय बना दे।

अरस्तू ने, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विचारमय जीवन मे वास्तविक परम शुभ[2] की कल्पना की थी और यह भी बताया था कि यह सबके लिए सुकर नही है। इसलिए उसने विभिन्न परिस्थितियो मे बुद्धि से काम लेने का सुगम मार्ग बताया। इसे अरस्तू का मध्य मार्ग कहा जाता है।

मध्य मार्ग

अरस्तू का कथन है कि मनुष्य मे विभिन्न भावनाएँ है। ये द्वंद्व रहित नही है। भय की वस्तु देखकर भय की भावना उत्पन्न हो सकती है, अथवा अपने पराक्रम की भावना उत्पन्न हो सकती है। इसी प्रकार स्वादिष्ठ भोजन देखकर अधिकतम स्वाद लेने की भावना हो सकती है, अथवा बिल्कुल ही अरुचि हो सकती है। इन भावनाओ के द्वंद्व से किसी एक के साथ बह जाने मे 'बुद्धि-सम्मत कर्म' (Action according to Reason) नही हो सकता। बुद्धि-सम्मत कर्म तब हो सकता है, जब विरोधी भावनाओं में से किसी के वशीभूत न होकर मध्य-मार्ग[3] का अनुसरण किया जाय। भय की वस्तु देखकर भाग खडा होना, अथवा अनावश्यक ही आक्रमण कर देना दुर्बुद्धि का परिचय देता है। इसी प्रकार स्वादिष्ठ भोजन का अकारण तिरस्कार कर देना, अथवा आवश्यकता से अधिक उपभोग करना, दोनो ही बुद्धि-सम्मत नही है।

१. एथिका निकोमैकिया, १, २, १०९४ ए, १७; १, ७ तथा १०, ७
२. अरस्तू के परम शुभ का सिद्धान्त उसके यूडीमॉनिज्म में मिलता है। 'यूडीमॉनिया' का अर्थ 'भला जीवन' और 'भले कर्म' है।
३. एथिका निको०, ११०४ ए, १५-२५

सोच-समझकर, जिस समय, जिस रूप में और जिस सीमा तक जिस कार्य को करना उचित हो करना चाहिए। इसी प्रकार के कर्मों मे नैतिक गुण माना जाता है, किन्तु बिना अभ्यास[1] के इस मार्ग पर चलना सभव नही है।

अरस्तू का कहना ठीक ही है। सब कुछ सोचते और समझते हुए भी, जिसने स्वादिष्ठ वस्तुओ का उचित मात्रा में सेवन करने का अभ्यास नही किया है, वह अवसर पड़ने पर अपनी इच्छा को रोक न सकेगा। जिसने किसी की लगनेवाली बात सुनकर, समझदारी का जवाब देने की आदत नही डाली है, वह ऐसी अवस्था मे कभी भी अपने क्रोध को दबा नही सकता। कभी एक मीठी बात कह देने से कोई मितभाषी नही कहा जायगा। नैतिक आचरण तो तभी माना जा सकता है, जब एक-सी परिस्थितियों में सदैव एक-सा व्यवहार दिखाई दे। इसी लिए अरस्तू ने अभ्यास की आवश्यकता पर बल दिया।

ऐच्छिक और अनैच्छिक कर्म

अभ्यास की बात स्पष्ट करने के लिए अरस्तू ने ऐच्छिक (Voluntary) और अनैच्छिक (Non-voluntary) कर्मो का अतर[2] स्पष्ट किया। अभ्यास ऐच्छिक कर्मो का होता है, अनैच्छिक कर्मो का नही। अनैच्छिक कर्म वे है जिनके होने में, कर्त्ता नही, बाह्य कारण प्रधान होते है, अथवा वे कर्म, जिन्हें कर्त्ता अनजाने ही कर डालता है। इनमे से दूसरे प्रकार के कर्म ऐच्छिक भी बन सकते है। यदि कर्त्ता अज्ञानवश कोई कर्म कर बैठता है और अनिष्ट फल प्राप्त होने पर पश्चात्ताप करता है, तो वह कर्म अनैच्छिक होगा। पर कर्त्ता को पश्चात्ताप न होने पर उसका कर्म जो प्रारभ में अनैच्छिक था, ऐच्छिक बन जाता है। निश्चय ही इस विवेचन में अरस्तू उत्तरदायित्व की बात सोच रहा है। ऐच्छिक कर्म तभी माना जा सकता है, जब कर्त्ता को उस कर्म के करने के लिए उत्तरदायी माना जा सके। अनिष्ट फल पर

१. एथिका निको०, ११०३ए, २५

२. एथिका निको०, ३, १–२। विशेष रूप से १११०–बी, १ से १११२–ए, १५ तक

पश्चात्ताप करने से प्रकट होता है कि यदि कर्त्ता को पहले से उस फल के प्राप्त होने की आशंका होती तो वह कर्म न करता।

कभी-कभी भूख, क्रोध आदि संवेगो के वश मे होकर किये हुए कर्मो के लिए भी कर्त्ता को उत्तरदायित्व से मुक्त कर दिया जाता है। अरस्तू इसके पक्ष मे न था। उसका कहना है कि फिर तो कर्त्ता को केवल नैतिक कर्मो के लिए ही उत्तरदायी माना जा सकेगा, अनैतिक कर्मो के लिए नही। दूसरी बात यह है कि कर्त्ता के सकल्प से कर्म ऐच्छिक बनता है। सभी कर्मो का मूल किसी न किसी इच्छा मे ही रहता है, इसलिए किसी कर्त्ता को यह कहकर उत्तरदायित्व से मुक्त नही किया जा सकता कि उसने भूख से पीडित होकर अथवा क्रोध के आवेग मे अमुक कर्म कर डाला, ये भावावेग (States of Passion) इच्छाओ से ही उत्पन्न होते है। देखना यह चाहिए कि कर्त्ता ने सकल्प किया था अथवा नही। सकल्प (Volition) विचारपूर्वक इच्छा करने को कहा जाता है। यदि किसी दी हुई परिस्थिति मे, कर्त्ता अपनी इच्छा की पूर्त्ति के निमित्त, विचार कर उपयुक्त कर्म का निश्चय करता है तो वह अवश्य ही सकल्प करता है और अपने कर्म का उत्तरदायित्वपूर्ण कर्त्ता कहलाने की योग्यता (Merit) प्राप्त करता है।

ऐच्छिक कर्म बार-बार करने से ही कर्म का अभ्यास होता है और इस प्रकार का अभ्यास होने पर ही चरित्र का विकास माना जाता है।[1] चरित्र (Character) का विकास होने पर किसी कर्त्ता के कर्म पर नैतिक गुण का आरोप किया जाता है। इस विचार को अरस्तू यह कह कर व्यक्त करता है कि नैतिक गुण चरित्र की विशेषता है।[2] चरित्र का विकास, वह ऐच्छिक कर्मो के अभ्यास पर निर्भर मानता था।

मध्य मार्ग का नियम

अरस्तू के नैतिक विवेचन में सबसे कठिन बात मध्य मार्ग का चुनाव है। जीवन की विभिन्न म यदि कर्त्ता भावावेश के कारण अथवा

सवेगों के बहाव में पड़कर, सुख की प्राप्ति की कामना से या दुःख का निवारण करने के लिए, सम्मान प्राप्त करने की इच्छा से या अपमान से बचने के लिए जो कर्म जिस प्रकार और जितनी मात्रा में करना चाहिए, उससे कम या अधिक करता है, तो वह नैतिक नियम का उल्लंघन करता है। कर्म की परिस्थितियों में बहुत बचकर चलने की आवश्यकता होती है। नैतिक कर्त्ता का पैर न इधर पड़ना चाहिए, न उधर, उसका मार्ग 'अति' (Excess) और 'अल्प' (Defect) के बीच का है। इस प्रकार के कर्म करने के लिए कर्त्ता को कर्म-सम्बन्धी सामान्य नियमों की जानकारी होनी चाहिए, जो व्यावहारिक बुद्धि से प्राप्त होती है।[1] साथ ही विशिष्ट परिस्थितियों का अनुभव होना चाहिए। विशिष्ट कर्मों का सकल्प नैतिक चिंतन पर निर्भर रहता है। यह चिंतन आकार में न्याय की भाँति होता है। उदाहरण के लिए, नैतिक कर्त्ता को यदि मालूम है कि 'अमुक परिस्थिति में अमुक कर्म वांछित है' और वह यह भी जानता है कि 'यह परिस्थिति' अमुक प्रकार की है, तो वह वांछित कर्म का संकल्प कर सकता है।[2] अब वह यदि कर्म करने में सीमा से नीचे नहीं रह जाता अथवा ऊपर नहीं चला जाता है, तो उसके कर्म को नैतिक माना जा सकेगा। अरस्तू ने नैतिक गुणों के विवेचन में कर्म की बहुत-सी दशाओं के उदाहरण देकर मध्य कर्मों का स्वरूप उपस्थित करने का अच्छा प्रयत्न किया है।

नैतिक गुणों का विवेचन

अरस्तू के नैतिक गुणों का विवेचन व्यवहार की दृष्टि से बहुत ही शिक्षाप्रद है। मुख्य-मुख्य परिस्थितियों में जिन आचरणों की निंदा और प्रशंसा की जाती है, उन सबकी व्याख्या कर, अरस्तू ने मध्य-कर्म (Mean Activity) का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया है। यह सपूर्ण विवेचन एक प्रकार से अल्प-विकसित, अति-विकसित, अविकसित, दूषित और संतुलित व्यक्तित्वों का विवेचन है। इस विवेचन से मालूम होता है कि अरस्तू नैतिक आचरण के लिए संतुलित व्यक्तित्व का विकास आवश्यक समझता था और इसे वह

१. एथिका निको०, ११०७ ए; ११४४ बी, २५

२. एथिका निको०, ११४६ बी, ३५–११४७ ए, ९

चिंतन, अनुभव और अभ्यास का फल मानता था। उसके विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि नैतिक गुण चरित्र की वह विशेषता है, जो दूसरो के हित के उद्देश्य से किये जानेवाले सन्तुलित कर्मों में मिलती है।

'मितव्ययिता' की व्याख्या करते हुए अरस्तू ने कहा है कि प्रयोग की वस्तुओ के भली-भाँति प्रयोग वही लोग कर सकते है, जिनमे उन वस्तुओ के प्रयोग से सम्बन्ध रखनेवाले नैतिक गुण होते है।[1] 'मिताचरण' (Temperance का उदाहरण इस कथन को स्पष्ट कर देता है, क्योंकि शरीर भी एक प्रकार का साधन है और मिताचारी ही उसका उचित उपयोग करता है। अरस्तू नैतिक गुणो की प्रकृति बताते हुए कहता है कि ये दूसरो की भलाई के निमित्त किये जानेवाले कर्मो मे पाये जाते है और इन्ही के कारण नैतिक कर्मों के कर्त्ता को सम्मान मिलता है।[2] इन कर्मों को करने मे कर्त्ता को हर्ष होता है और इसी लिए वह व्यावहारिक ज्ञान मे प्राप्त किये हुए नियम के अनुसार, अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियो का अनुशासन कर, नैतिक कर्म करने का प्रयत्न करता है।[3] अरस्तू का नैतिक गुणो का विवेचन सचमुच नैतिक चरित्रो का विवेचन है। इस विवेचन का उद्देश्य व्यावहारिक शिक्षा है। उसके विवेचन से यह संकेत मिलता है कि अपने शरीर के सदुपयोग के लिए दूसरों की—नागरिक बन्धुओं की, देश की—भलाई को ध्यान मे रखकर, सम्मानपूर्ण कार्य करने का चरित्र बनाने से नैतिक गुणों की प्राप्ति होती है।

अरस्तू के विवेचन मे नैतिक गुणो के वर्गीकरण तथा परिभाषा आदि पर नही, बल्कि नैतिक चरित्र की विशेषताओं पर बल दिया गया है। उसने प्रत्येक चरित्र को उन परिस्थितियो में रखकर देखने का प्रयत्न किया है, जिनमे उसकी आवश्यकता होती है। बहुत से नैतिक चरित्रो का स्वरूप ही दिया गया है और कह दिया गया है कि इनका कोई नाम निश्चित नही है। प्रस्तुत पुस्तक मे, अरस्तू के द्वारा जिनका नामकरण नही किया गया है, किन्तु

१. एथिका निको०, ११२० ए, ५–२३
२. एथिका निको०, ११०७ बी, २६; ११२२ बी, ७; ११२३ बी, २५
३. एथिका निको०, ११२० ए, २६

हम कुछ न कुछ नाम देते हैं, उन सब विशेषताओं के भी नाम दे दिये गये है। उसके विवरण में[1] चौदह नैतिक विशेषताओ पर विचार मिलते है, जिनमे से ग्यारह को वह नैतिक गुण कहता है, तीन को वह अलग कर देता है। इनमे से दो को वह भाव-दशा कहता है और एक को मिश्रित स्वभाव का बतलाता है। उसने प्रथम दो के लिए 'लज्जा' और 'धार्मिक आक्रोश' और तीसरे के लिए 'संयम' (Continence) शब्द का प्रयोग किया है। शेष मे से दस नैतिक गुणो को चार समूहों में बाँटा जा सकता है--(१) मिताचरण, साहस और सौम्यता क्रमश. हर्ष, भय और क्रोध के संवेगो के प्रभाव से किये जाने-वाले कर्मों में मध्य-स्थिति के कर्मो के गुण है। (२) धन के व्यय करने के क्षेत्र मे मितव्ययिता और उदारता दो भिन्न स्तरो के गुण है। (३) सामाजिक संपर्को मे, व्यवहार-कुशलता, सत्यवादिता और वाक्पटुता की मध्य-स्थितियाँ सम्मानित होती हैं। (४) गौरव तथा आत्म-गौरव का स्थान सम्मान की आकाक्षा की उचित पूर्त्ति मे है। ग्यारहवाँ नैतिक गुण न्याय-शीलता है, जिसका स्वतंत्र विवेचन किया गया है।

(१) साहस

यह भय और निर्भयता के क्षेत्र मे मध्य आचरण की स्थिति है।[2] जो पुरुष असम्मान का भय करता है, उसे साहसवान् न कहकर 'विनम्र' (Modest) कहा जाता है।[3] जो लोग किसी भी वस्तु का भय नही मानते, वे 'आततायी' (Rash) हैं। अरस्तू ऐसे लोगो को विक्षिप्तों के समान मानता था।[4] भयकारक वस्तु की बिल्कुल परवाह न करना नैतिकता नही, संवेद-शून्यता है। नैतिक व्यक्ति संवेद-शून्य नही होता, वह बौद्धिक नियमो के अनुसार आचरण करता करता है। इसलिए वह जानता है कि कुछ स्थितियों मे भयकारक वस्तु का मुकाबला करना उसके लिए उचित और सम्मानपूर्ण है। साहसी वीर होता

१. एथिका निको०, पु० ७ और ८
२. एथिका निको०, १११५ ए, ६
३. एथिका निको०, १११५ ए, १३
४. एथिका निको०, १११५ बी. २४

है, किन्तु वह प्रलापी[1] (Boastful) नही होता। प्रलापी व्यक्ति वीर न होने पर भी अपनी वीरता का दम भरता है और आवश्यकता पड़ने पर मैदान छोड़ देता है। अरस्तू का साहसी व्यक्ति आततायी और भीरु के बीच का होता है। वह अनावश्यक शौर्य-प्रदर्शन नही करता, न प्रत्येक वस्तु मे डरता ही है। वह उचित उद्देश्य से, वांछित अवसर पर, उचित रूप में, भयकारक वस्तु का मुकाबला करके, अपने साहस का परिचय देता है।[2]

सच्चे साहस का अर्थ समझाने के लिए उसने अवास्तविक साहस के तीन उदाहरण दिये हैं[3]—(१) कुछ लोग उत्तेजित होने के कारण मुकाबला करने पर तुल जाते है; चाहे वस्तु कितनी ही भयानक हो। जैसे किसीको जगली जानवर ने जख्मी कर दिया, क्रोध आया और उस क्रोध में आतुर पुरुष उस पशु पर झपट पड़ा, जिसने उसे हानि पहुँचायी थी। अरस्तू इसे नैतिक साहस नही मानता, क्योकि उसके विचार से नैतिक कर्म सुचिंतित होते है, आवेश मे नही किये जाते। (२) इसी प्रकार कुछ लोग अपने बल को विपक्षी के बल से अधिक मानने के कारण भिड़ जाते है। यह भी नैतिक साहस नही है, क्योकि नैतिक व्यक्ति जब जरूरत समझता है तभी साहस करता है और फिर वह पीछे नही हटता। गलत अनुमान के कारण जो लोग साहस करते है, वे अनुभव होते ही पीछे हट जाते है। (३) तीसरे प्रकार के अनभिज्ञ लोग है, जिन्हे शत्रु का ज्ञान नही रहता, इसलिए साहस करते है। ये तो मुकाबला होते ही भागते है। दूसरे प्रकार के लोग तो कम से कम उतनी देर टिकते है जितनी देर तक उन्हे अपना बल कम नही मालूम पड़ता।

इन तीन स्थितियो पर विचार कर अरस्तू नागरिक-सैनिक के साहस पर विचार करता है। इसे वह नैतिक साहस के समीप मानता है, क्योकि नागरिक सैनिक का उद्देश्य अपने नगर की रक्षा तथा उसके सम्मान की प्रतिष्ठा करना होता है। इस साहस मे कमी इतनी ही रह जाती है कि नगर-सैनिक बहुत कुछ इसलिए भी साहस दिखलाता है कि मैदान से भागने पर उसकी निंदा

१. एथिका निको०, १११५ बी, ३०
२ १११६ ए, १० १४। ३ पु० ३ अ० ८

होगी और वह दंडित किया जायगा। इससे मालूम होता है कि अरस्तू सच्चे साहस के लिए स्वेच्छापूर्ण होना आवश्यक मानता था।[१]

इसी प्रसंग में उसने सुकरात के इस कथन पर कि साहस ज्ञान है, विचार किया है। उसने सुकरात के कथन को अक्षरशः सत्य नहीं, किन्तु किन्हीं अर्थों में सत्य माना है। उसका कथन है कि युद्ध का अनुभव होने पर उन स्थितियों का पता चल जाता है जिनमें भय करना चाहिए और जिनमें नहीं करना चाहिए। इस अर्थ में ज्ञान का साहस से सम्बन्ध है। ज्ञान साहस के कामों में सहायक होता है, किन्तु दोनों एक नहीं है।[२]

इस प्रकार अरस्तू से हमें मालूम होता है कि सच्चा साहस वही है जो रणक्षेत्र में प्रदर्शित किया जाता है। साहसी व्यक्ति रण की मृत्यु से नहीं डरता। वह जानता है कि रणक्षेत्र में मरने से वीर-गति प्राप्त होती है। किन्तु वह आततायी की भाँति बिना विचार के साहस नहीं दिखाता। समझ-बूझकर, साहस दिखाकर, वह अपने तथा अपने देश के लिए यश प्राप्त करता है।[३]

(२) मिताचरण

इस नैतिक गुण का सुखद वस्तुओं के प्रति किये जानेवाले आचरण से सम्बन्ध है, किन्तु सभी सुखद वस्तुएँ मिताचरण का विषय नहीं है।[४] मिताचरण का स्वभाव स्पष्ट करने के लिए अरस्तू ने मिताचारी और विलासी (Indulgeut) चरित्रों की तुलना की है। जिन वस्तुओं के प्रति अत्याचरण करने से किसी मनुष्य को विलासी कहा जाता है, उन्हीं के प्रति युक्ताचरण करने से उसे मिताचारी कहा जायगा। मानसिक सुख का लोलुप होने से किसी को विलासी नहीं कहा जाता, न कथा कहने अथवा सुनने में लिप्त होने से विलासी कहा जाता है। शरीर के सुखों की इच्छा करनेवालों में दो तरह के व्यक्तित्व पाये जाते हैं। अत्याचारियों को विलासी और युक्ताचारियों को मिताचारी कहा

१. एथिका निको०, १११६ ए, २६—बी, २
२. १११६ बी, ३-२२।
३. १११५, ए, २६-३० ४. १११७ बी, २५

जाता है। किन्तु शारीरिक सुखों का आस्वाद तो सभी इन्द्रियों से संभव है। विलासिता अथवा मिताचरण का सब इन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले आस्वाद से भी सम्बन्ध नहीं है। वर्णों, आकारों तथा चित्रों के दृष्टिगत आस्वाद में अधिक रुचि लेने वाले को कोई विलासी व्यक्ति नहीं समझता, न संगीत अथवा नाट्य का सुख लेनेवाले को ही विलासी कहा जाता है। इन विषयों मे संतुलित आचरण करने मे कोई मिताचारी भी नहीं कहा जा सकता।[1]

प्रमुख शारीरिक सुख स्वाद और स्पर्श की वस्तुओ में माना जाता है। इसी लिए स्वाद और स्पर्श की वस्तुओ की गंध में अधिक रस लेनेवालो को किसी अर्थ मे विलासी मान लिया जाता है। किन्तु गंध केवल विलासिता की वस्तुओं की सूचना देने से प्रिय लगती है। विलासी का विशेप रूप मे स्पर्श और स्वाद के रस से सम्बन्ध रहता है। स्वाद से भी उतना सम्बन्ध नहीं होता, जितना स्पर्श से और स्पर्श मे भी विलासी को पूरे शरीर के घर्पण में नहीं, कुछ विशिष्ट अंगो के घर्पण में, जिनका मैथुन से सम्बन्ध है, विशेप रस मिलता है। इन्ही वस्तुओं के प्रति बुद्धि से अनुमोदित आचरण करने-वाले को मिताचारी कहते हैं।[2]

मिताचारी की मुख्य विशेपता यह है कि जिन वस्तुओं का अभाव विलासी को खलता है, उन्हीं वस्तुओं का अभाव या कमी मिताचारी को कष्ट नहीं देती।[3] संक्षेपत, अरस्तू स्वाद और प्रेम-सम्बन्धी स्पर्शो के युक्त आस्वा-दन को मिताचार मानता है। अपेक्षित रूप में उक्त आस्वाद को वह स्वाभा-विक मानता है, किन्तु इन्ही सुखो के क्षेत्र में अति करना वह विलासिता तथा दुर्गुण मानता है। उसके मत से इस क्षेत्र में अल्पाचरण होता ही नहीं है। बुद्धि के पथप्रदर्शन मे चलकर, यदि कोई व्यक्ति अपने आचरण को उचित सीमाओं में रख सके तो वह मिताचारी होगा और उसके आचरण में नैतिक गुण माना जायगा।[4]

१. एथिका निको०, १११७ बी, २३–१११८ ए, १६
२. १११८ ए, २३–३३।११८ बी, १-७
३ १११८ बी ३३ ४ १११९ ए, ११ २१

(३) सौम्यता

क्रोध के आवेश मे कुछ लोग युक्त आचरण की सीमाओ का अतिक्रम कर जाते है, कुछ उन स्थितियों मे भी क्रोध नही करते जिनमें क्रोध करना सर्वथा नीतिपूर्ण है। अरस्तू उस आचरण को सौम्य कहता है जो इन दोनो आचरणों के बीच का है। सौम्य पुरुष जानते है कि उन्हे किन बातो पर, किन लोगो से, किस प्रकार, कितनी देर तक क्रोध करना चाहिए और इसी जानकारी के अनुरूप व्यवहार करते है।[1] आवश्यकता रहने पर क्रोध न करनेवाले को वह अल्पाचारी मानता है। उसका कहना है कि इस प्रकार के लोगो को आत्म-रक्षा मे असमर्थ समझा जाता है और उनसे किसी प्रकार के भी अपमान को सह लेने की आकांक्षा की जाती है। इस प्रकार का आचरण नैतिक नही है।[2]

दूसरे प्रकार के लोग वे है, जो अति क्रोध करते है। ऐसे लोग यह नही सोचते कि उन्हे किन बातो पर तथा किस प्रकार के लोगो से और किस विधि से, कितनी देर तक क्रोध करना चाहिए। वह चार प्रकार के अनुचित क्रोध करनेवालो के व्यवहारों का उल्लेख करता है—(१) **उष्ण स्वभाववाले**—जो लोग बहुत जल्दी क्रुद्ध हो जाते है और उन व्यक्तियो पर क्रोध करते है, जिन पर नही करना चाहिए, उष्ण स्वभाववाले कहे जाते है। ये आवश्यकता से अधिक क्रोध का प्रदर्शन करते है, किन्तु शीघ्र ही शान्त भी हो जाते है। (२) **क्षीण व्यक्ति**—ये प्रत्येक बात पर नाराज होते है और इनके लिए किसी विशेष अवसर की आवश्यकता नही होती। (३) **गर्हित**—तीसरे प्रकार के क्रोधी गर्हित होते है। इनकी मुख्य विशेषता यह है कि ये एक बार नाराज हो जाने पर बहुत समय तक याद रखते है। जताते कुछ नही, मन ही मन क्रोध किया करते है। पर इनमें एक अच्छाई होती है। यदि इन्हे कुछ कहने-सुनने का अवसर मिल जाय तो ये तुरन्त ही शान्त हो जाते है। (४) **दुष्ट स्वभाववाले**—ये क्रोध न करनेवाली बातो पर क्रोध करते है,

१. एथिका निको०. ११२५ बी ३० २ ११२६ ए, ३-७

आवश्यकता से अधिक क्रोध करते है, देर तक याद रखते है और मानते तभी है, जब बदला ले लेते है।[1]

अरस्तू कहता है कि यह बताना तो बहुत कठिन है कि क्रोध कैसे किया जाय, कब किया जाय और कब न किया जाय, कितना क्रोध करना उचित होगा, क्योंकि उचित और अनुचित के बीच, विशेषकर क्रोध के प्रसग मे, रेखा खीचना कठिन है। थोडा कम या अधिक होने से निन्दा या प्रशसा भी नही की जाती, पर क्रोध के मामले में सतुलित व्यवहार करनेवाले को नैतिक माना जाता है। क्रोध करने के मामले मे कैसे और कितना आदि का निर्णय तो प्रत्येक परिस्थिति मे बुद्धि से प्राप्त आदेशो मे ही किया जा सकता है। ध्यान देने की बात है; अरस्तू क्रोध की स्थिति मे भी विवेक-शून्य होने को अनैतिक बतलाता है।[2]

(४) मितव्ययिता

धन का व्यय करने मे भी अरस्तू दो प्रकार के आचरणो को नैतिक कहता है। इनमें से एक मितव्ययिता है जो सामान्य जनो के लिए वाछनीय है, दूसरा गुण उदारता (Magnanimity) है, जो सबके लिए नही, केवल राजा-महाराजाओ तथा सेठ-साहूकारो के लिए वांछनीय है। मितव्ययिता का अर्थ समझाने के लिए अरस्तू मितव्ययी की अपव्ययी और कुत्सित पुरुषो से तुलना करता है।

(क) अपव्ययी—अरस्तू विलासी पुरुषो को, जो अपनी विलास-सामग्री पर बहुत व्यय कर डालते है, अपव्ययी नही मानता। उसका कहना है कि इस ढंग के लोगो मे तो दो दुर्गुण होते है, एक तो वे विलासी होते है, दूसरे असंयमी। किन्तु अपव्ययी उसी को कह सकते है, जिसमे अनावश्यक व्यय करने का दुर्गुण हो और कुछ नही। उसके मत से, वे ही लोग अपव्ययी है, जो दूसरो को धन देने में अननुपातिक आचरण करते है। अपव्यय के

१. ११२६ ए, ८-२७
२ एथिक्स निको० ११२६ ए ३१—बी १०

कारण कुछ अन्य दुर्गुण भी उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। दानी बनने के लिए कुछ अपव्ययी पुरुष गलत रास्तो से धन प्राप्त करके गलत लोगो को देने लगते हैं, जो वाछित नही है। किन्तु जो ऐसा नही करते, वे धन न रहने पर मितव्ययी हो जाते हैं। इस प्रकार के लोगो मे केवल विवेक की कमी होती है, कोई अन्य दुर्गुण नहीं होता।[१]

(ख) कुत्सित (Viscious)—यह आचरण अधिकतर जन्मजात होता है और इसका सुधार नही किया जा सकता। कुत्सित व्यक्ति मे दो दोष होते है। वह धन देने मे कमी करता है और लेने मे अधिकता।[२] किन्तु ये दोनो दोष एक साथ नही रहते। 'कजूस' दूसरो के धन की आकाक्षा नही करता, किन्तु अपना नही देना चाहता।[३] इसके भी दो कारण होते है। कुछ कजूस समझते है कि अपना धन दूसरों को बॉट देने पर, जब उनके पास कुछ न रह जायगा, उन्हे दूसरो के सामने अपमानित होना पडेगा, इसलिए वे लेते किसी से नही है, किन्तु अपना भी किसी को नही देते। दूसरे प्रकार के कजूस किसी से मॉगते नही, क्योकि वे सोचते है कि ऐसा करने पर दूसरे लोग भी उनसे मॉगेगे और वे देना चाहेगे नही, इसलिए वे न देते है, न लेते है।

कुछ कुत्सित लोग किसी को देना नही चाहते पर दूसरो से पाना चाहते है। ऐसे लोगो में से कुछ अनुचित वस्तुओ का व्यापार करते है, कुछ लम्बे व्याज पर धन उठाते हैं और दूसरे लोग चोरी, डकैती आदि करते है।[४]

मितव्ययी व्यक्ति न अपव्यय करता है और न धन के लेन-देन में कुत्सित आचरण करता है। वह दूसरो को धन देता है, किन्तु यह नही कि जो मॉगता है, उसी को दे देता है। वह केवल भले कामो के लिए देता है, इसी लिए गलत कामो के लिए बिल्कुल नही देता। बिना विचार के बॉटने लगे, तो वह उचित कार्यो के निमित्त देने के लिए कहाँ से लायेगा? वह किसी अनुचित साधन से तो प्राप्त नही करता। वह तो धन इसी लिए प्राप्त करता है कि

१. ११२० ए, ३; ११२१ ए, १०; २०, ३०; बी, ३-१७
२. ११२१ बी, १८-२१। ३. ११२१ बी, २२-३०
४ ११२१ बी ३१ ११२२ ए १३

उचित कार्यो मे वह दूसरों की सहायता कर सके। ऐसा व्यक्ति प्राय धनवान नही हो पाता, किन्तु फिर भी उसका सम्मान होता है, क्योंकि वह उचित विधि से कमाता और भले कामो मे लगाता है।[1]

(५) उदारता

यह गुण सबमें नही हो सकता, क्योंकि 'उदार' उसी को कहा जाता है जो बड़े-बडे कामों मे, सुरुचिपूर्ण ढग से, प्रचुर धन व्यय कर सके।[2] पर इसका तात्पर्य यह नही है कि बडी-बडी सम्पत्तियों के व्यय कर देने से कोई व्यक्ति उदार हो सकता है। उदारता विवेकपूर्ण ढग से बड़े-बडे कामो पर उचित व्यय करने का नाम है। अरस्तू का कहना है कि उदार पुरुष यह समझकर व्यय करता है कि उसके व्यय से, व्यय के अनुपात मे, फल उत्पन्न होगा। वह ऐसा नही करता कि छोटी-मोटी दावतो मे उतना खर्च कर दे जितने से एक बरात खिलायी जा सकती है।

यह तो व्यय और फल के अनुपात का उदाहरण है। उदार व्यक्ति सार्वजनिक कार्यो मे व्यय करता है, जैसे---धार्मिक उत्सवो में, देव-मन्दिरो के निर्माण में, विदेशी अतिथियो के स्वागत सत्कार आदि मे। वह व्यक्तिगत कार्यो मे तभी खर्च करता है, जब उन कार्यो का कोई सार्वजनिक उद्देश्य भी हो, जैसे---बयाह-शादियों के मौके पर वह पूरे नगर को दावत दे डालता है।[3] किन्तु उदार व्यक्ति के लिए भी उन बातो का ध्यान रखना आवश्यक है, जिनका मितव्ययी अपने छोटे पैमाने पर खर्च करते हुए ध्यान रखता है।

यदि उदारतापूर्ण कामों के लिए अनुचित साधनो से धन एकत्र किया जाता है तो वह नैतिक उदारता न होगी। कभी-कभी उदार बनने के लिए लोग बड़ी-बड़ी सम्पत्तियाँ व्यय कर देते है, पर बाद मे पछताते है। सच्चे उदार पुरुष वही है, जो सहर्ष बडे-बडे कामो पर खर्च करते है। कभी-कभी बडा खर्च करनेवाले छोटी-मोटी बातों मे त्रुटि करते है। विवेकपूर्ण उदारता में ऐसा भी नहीं होना चाहिए। अरस्तू के अनुसार, किसी साधारण स्थिति

१. ११२० ए, २३-११२१ ए, ७ २. ११२२ ए, २२; ३४
३ एथिका निको० ११२२ बी १७-२३: ३५-११२३ ए. १-१०

के मनुष्य को उदार बनने का प्रयत्न नही करना चाहिए। यह गुण उन्ही के लिए है, जिनके पास अतुल पैतृक सपत्ति है, अथवा आय के लम्बे साधन है। ऐसे लोग यदि धन का व्यय करने मे आचरण और विवेक का सामजस्य करे तो वे अपनी उदारता मे नैतिकता का संयोग कर सकते है।[१]

(६) गौरव

प्राय यह समझा जाता है कि सम्मान की आकाक्षा करनेवाले लोग अनैतिक आचरण करते है। किन्तु अरस्तू ने अपने गौरव के विवेचन से स्पष्ट किया है कि सम्मान की आकाक्षा करने के साथ-साथ, यदि मनुष्य अपने मे सम्मान के योग्य चरित्र का विकास भी करता है, तो वह नैतिक है। गौरव के विवेचन मे उसने यही दिखलाया है कि सम्मान ही नैतिक आचरण का उचित पुरस्कार है। जिसने सभी नैतिक गुण आत्मसात् किये है, उसे जितना सम्मान मिलना चाहिए उतना कोई दे नही सकता। अरस्तू का 'गौरव' 'सभी नैतिक गुणों के सिर का मुकुट (Crown of moral Virtues) है'।[२] अपने गौरव के विवेचन मे उसने उस चरित्र का विवरण प्रस्तुत किया है, जिसमे गौरव रहता है। ऐसे चरित्र को हम 'गुरु' (Grand) कह सकते है।

गुरु चरित्र मिताचारी और अहकारी के बीच का होता है। मिताचारी थोडे सम्मान का पात्र होता है और वह आकाक्षा भी उतनी ही करता है। अहंकारी चरित्र थोडे सम्मान का पात्र होता है, किन्तु वह आकाक्षा बहुत सम्मान की करता है। गुरु चरित्र आकाक्षा की दृष्टि से अहंकारी को भी परास्त कर देता है, किन्तु अपनी आकांक्षा के औचित्य की दृष्टि से वह सतुलित चरित्र है, क्योकि उसकी आकांक्षा पात्रता का अनुगमन करती है।[३]

अरस्तू के इस कथन से मालूम होता है कि गुरु चरित्र बहुत ही उदात्त होता है, तभी तो वह उच्चतम सम्मान की आकाक्षा करते हुए पात्रता के

१. ११२२ बी, ३०, २७, ६; ११२३ ए, २८
२. ११२४ ए, १। ३. एथिका निको०. ११२३ बी, ५-१४

नियम का उल्लंघन नही करता। अरस्तू अपने कथन में गुरु व्यक्ति की स्वाभाविक तथा व्यावहारिक विशेषताएँ बतलाता है।

गुरु व्यक्ति[1] भय से भागता नही है, किन्तु वह छोटे-मोटे मामलो में दखल भी नही देता। वह तभी भयकारक वस्तु का सामना करता है, जब वह समझता है कि अब उसकी आवश्यकता है। पर जब वह एक बार अड जाता है, तब वह जीवन-मरण की चिन्ता नहीं करता, क्योंकि वह सभी शर्तो पर जीवित रहना व्यर्थ समझता है। वह दूसरों का उपकार करता है, किन्तु अपने उपकार का बदला नहीं चाहता। उससे यदि कोई उसकी प्रशसा करता है तो वह लज्जित होता है। उसे तो यह सुनने मे आनन्द आता है कि दूसरो ने क्या किया है। अपनी बडाई वह नही सुनना चाहता। वह किसी से कुछ माँगता नही, पर दूसरो को देने के लिए तैयार रहता है। बडे लोगो मे वह बडप्पन की बात करता है, किन्तु साधारण लोगो के साथ समानता का व्यवहार करता है। सपत्ति और विपत्ति में वह सम रहता है। उसकी वाणी गभीर और चाल मद होती है, क्योकि वह न कभी उत्तेजित होता है और न जल्दी में रहता है। ऐसे व्यक्ति के पास धन होना आवश्यक नही है। धन के बिना भी गुरु चरित्र सभव है। पर धन होना कोई दुर्गुण भी नही है। अरस्तू का विवरण पढ़कर भगवद्गीता के 'धीर' पुरुष की याद आ जाती है।

(७) आत्म गौरव

अरस्तू का कथन है कि जिस प्रकार 'उदारता' का संकुचित रूप 'मित-व्ययिता' मे मिलता है, उसी प्रकार सम्मान के क्षेत्र मे भी 'गौरव' का एक छोटा रूप पाया जाता है।[2] अरस्तू ने इसका कुछ भी नाम नही दिया है, किन्तु इसे यदि हम 'आत्मगौरव' कहे तो अनुपयुक्त न होगा। वह इसे 'महत्त्वा-कांक्षी' और 'निराकांक्षी' चरित्रों के बीचवाले चरित्र का गुण बतलाता

१. ११२४ बी, ५-११२५ ए, ३५
२. एथिका निको०, ११२५ बी, १-३

है।[1] वह कहता है कि ये दोनों ही चरित्र दोषयुक्त हैं। 'महत्त्वाकांक्षी अपनी योग्यता से अधिक सम्मान की आकांक्षा करता है और, साथ ही, उसे अयुक्त ढंग से प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। 'निराकांक्षी' व्यक्ति उन कामों के बदले में भी सम्मान नहीं चाहता, जिनके बदले उसे सम्मान मिलना चाहिए। इन दोनों के बीच का चरित्र उचित कामों के लिए, उचित ढंग से तथा उचित मात्रा में सम्मान की आकांक्षा करने से बन सकता है। यह नैतिक होगा, क्योंकि इसमें आकांक्षा का औचित्य से संयोग हो जायगा।

(८) व्यवहार कुशलता

अरस्तू ने सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र से तीन नैतिक गुणों का चुनाव किया था, जिसमें से यह प्रथम है। 'व्यवहार-कुशलता' (Tactfulness) नाम अरस्तू का दिया हुआ नहीं है। वह इसे मित्रता के समीप का गुण बतलाता है, किन्तु जिस प्रकार के चरित्र में वह इसे स्थापित करता है, उसे 'व्यवहार-कुशल' ही कहा जा सकता है। अपने इस अ-नाम चरित्र को समझाने के लिए वह दो अन्त्य चरित्रों को प्रस्तुत करता है। एक प्रकार के लोग 'मीठे आदमी' कहे जाते हैं। वे समझते हैं कि किसी का दिल न दुखाना चाहिए। वे, गलत-सही जो भी कोई कहता है, सब मान लेते हैं।[2] दूसरे प्रकार के लोग हर बात में दोष निकालते रहते हैं और किसी को बुरा लगने की जरा भी परवाह नहीं करते।[3] इन दोनों के बीच का मनुष्य व्यवहार-कुशल होता है।

वह सबसे मित्रों-जैसा व्यवहार करता है, चाहे उन्हें जानता हो अथवा न जानता हो। जहाँ दूसरों के आमोद-प्रमोद में भाग लेना सम्मानपूर्ण समझता है, वहीं वह भाग लेता है। उसकी जानकारी में यदि कोई किसी गलत काम का प्रस्ताव करता है, तो वह मना करता है, किन्तु जब वह देखता है कि लोग न मानेंगे, तो वह स्वयं अलग हो जाता है।[4] वह छोटे,

१. ११२५ बी, ९, १६-२५।
२. ११२६ बी, १२
३. ११२६ बी, १६
४. एथिका निको०, ११२६ बी, ३२

बड, घनिष्ठ मित्र, अल्प परिचित आदि के साथ वैसा ही व्यवहार करता है जैसा होना चाहिए।[1] अरस्तू का कथन है कि यदि उसके व्यवहार मे प्रेम मिला दिया जाय तो वह मित्रता मे बदल जायगा।[2] ऐसे व्यक्ति को, जो सामाजिक सपर्क में युक्त व्यवहार करता है, व्यवहार-कुशल और उसके व्यवहार के गुण को व्यवहार-कुशलता कहना उपयुक्त प्रतीत होता है।

(९) सत्यवादिता

अरस्तू का कथन है कि सामाजिक सपर्क मे दो प्रकार के व्यक्ति मिलते है। कुछ लोग अपनी बडाई का रोब जमाने के लिए बढ़-बढकर बातें करते है। इनने से कुछ तो केवल अपनी प्रशसा करवाने के लिए ऐसा करते है और कुछ अपने सम्बन्ध मे बड़ी-बड़ी बाते बताकर लोगो से धन ऐठना चाहते है। इन दोनो को अरस्तू 'प्रलापी' कहता है।[3] दूसरे प्रकार के लोग वे है, जो बडे-बडे काम करने पर भी दैन्य ही प्रदर्शित करते रहते है। अरस्तू ने इस प्रकार के लोगो की विनम्रता को वास्तविक न मानकर कृत्रिम माना है और उदाहरण के लिए सुकरात का नाम लिया है।[4]

अरस्तू इन दोनो प्रकार के व्यक्तियो मे उनको अच्छा मानता था, जो जितनी बात होती है उतनी ही कहते है। न वह व्यर्थ के दैन्य-प्रदर्शन का समर्थक था और न तिल का ताड़ बनाने का। वह उन लोगो को सतुलित चरित्रवाला समझता था जो यथातथ्य बात कहते है। वही सत्यवादी है और प्रशसा के पात्र है।

(१०) वाक्पटुता (Wittiness)

सामाजिक जीवन मे 'वाक्पटुता'[5] की प्रशंसा की जाती है, इसलिए बहुत से लोग वाक्पटु होने का प्रयत्न करते है। पर सच्चे अर्थ मे वाक्पटु होने के लिए विचार और विवेक की आवश्यकता है। इनके अभाव में वाक्-

१. ११२७ ए, १-५। २. ११२६ बी, २०
३. ११२७ बी, ९-२२ ४. ११२७ बी, २३-२६
५ पु० ४ अ० ८

पटुता का प्रयत्न मनुष्य को विदूषक बना देता है। बहुत से लोग यह समझ बैठते है कि बात-बात मे मजाक करना और भद्दे मजाक करना ही वाक्-पटुता है। ऐसे लोग यह भी नही सोचते कि किस स्थान पर और किस अवसर पर कैसी बाते कहनी चाहिए। कुछ लोग इस प्रकार के व्यवहार की प्रतिक्रिया करने मे इतना आगे बढ जाते है कि किसी प्रकार का भी विनोद पसद नही करते। अरस्तू को इनमे से एक भी सामाजिक जीवन के लिए उपयुक्त न दिखाई दिया।

उसके विचार से नैतिक व्यक्ति न तो बिना विवेक के हर बात पर, प्रत्येक पद और वय के लोगो के सामने हँसी-मजाक ही किया करता है और न रोनी सूरत बनाकर दूसरो का जीना मुहाल कर देता है। वह विनोद करने लायक अवसरो पर सुरुचिपूर्ण ढग से विनोद करता है। किन्तु विनोद करने में इस बात का ध्यान रखता है कि कही ऐसे व्यक्तियो अथवा वस्तुओ की खिल्ली तो नही उड़ा रहा है, जो सम्मान के पात्र हो। सक्षेपत वह उस प्रकार का विनोद करता है, जैसा किसी शिक्षित और प्रतिष्ठित व्यक्ति को शोभा दे।

(११) न्यायशीलता

अरस्तू न्याय के विषय मे सोचते हुए राज्य के नियमो, अधिकारियो तथा न्यायालयो के कर्त्तव्यो, उद्देश्यो आदि की बात सोचता था। राज्य के संचालक नागरिको के लिए विधान बनाते है, जिसमें उनके पथप्रदर्शन के लिए सामान्य नियम रहते है। इन नियमो के कारण कोई नागरिक दूसरे नागरिक के अधिकारों का अपहरण नही कर सकता। यह सामान्य न्याय[१] है, जो सामान्य नियमों मे प्रकट होता है। पर ये नियम सामान्य नियम होने के कारण विशिष्ट परिस्थियो में काम नही देते। ऐसी परिस्थितियो मे न्याय करने के लिए राज्य न्यायाधीश नियुक्त करता है। इनके निर्णयो

१. एथिका निको०, ५, १–११२९ बी, १२; ११२९ बी, १७; ११२९ बी, १९-२४; ११२९ बी, ३१

मे राज्य का विशिष्ट न्याय[1] व्यक्त होता है। इस प्रकार, अरस्तू ने न्याय के दो मुख्य विभाग किये—सामान्य न्याय तथा विशिष्ट न्याय।

नैतिक कर्मो का गुण कर्त्ता मे माना जाता है, जैसे साहसपूर्ण कर्म करनेवाले को साहसी और मिताचरण करनेवाले को मिताचारी कहते हैं। इसी प्रकार न्याय करनेवाले को न्यायशील कहेगे। कर्मो के गुणो का श्रेय कर्त्ता को मिलता है। इसलिए न्यायशीलता राज्य के उन्ही अधिकारियो मे मानी जायगी जो राष्ट्र को न्याय देते है। इस प्रकार विचार करते हुए अरस्तू ने न्यायशीलता को राजनीतिज्ञों का गुण माना था।

अरस्तू ने अन्य नैतिक गुणो को न्यायशीलता के अतर्गत रखा था। वह सोचता था कि राज्य के नियमो से नागरिको की नैतिक शिक्षा होती है। विधान मे अनैतिक कार्यों का निषेध किया जाता है और उस निषेध को न माननेवालो के लिए दड विधान किया जाता है। इस नीति से राज्य नागरिको को नैतिक कर्मो का अभ्यास कराकर उन्हे चरित्रवान् बनाता है। इस प्रकार राजनीतिक समाज के सदस्यो के नैतिक बनने का उत्तरदायित्व राज्य पर निर्भर रहता है। नैतिक चरित्र का विकास शिक्षा और अभ्यास से ही होता है।

राज्य अपने सामान्य न्याय से नैतिक शिक्षा देता है और विशिष्ट न्याय से नैतिक कर्मो का अभ्यास कराता है। उदाहरण के लिए, विधान के अनुसार किसी सिपाही को अपने स्थान से हटना न चाहिए। इस नियम से उसे युद्ध सबंधी नैतिकता का ज्ञान हो जाता है। पर इस नियम पर न चलने की दशा मे न्यायालय अपने विशिष्ट न्याय के द्वारा उसे दडित करता है। इन दोनो प्रकार के न्याय-विधानों से नागरिको को साहस का अभ्यास होता है।

अरस्तू अपने इस विवेचन के माध्यम से यह सुझाव देना चाहता था कि नागरिको के नैतिक आचरण के विकास का उत्तरदायित्व राज्य पर है। राज्य को विधान में ऐसे नियमों का समावेश करना चाहिए जिससे समाज को विधि-निषेध का ज्ञान हो। वह यह जानता था कि बहुत-सी परिस्थितियो

१. एथिका निको०, ५, २-४

मे सामान्य नियमो से काम न चल सकेगा। इसी लिए उसने विशिष्ट न्याय की आवश्यकता पर बल दिया था। वह जानता था कि आचरण का पूरा उत्तरदायित्व कर्त्ता पर ही नही रहता; वह परिस्थितियो से भी प्रभावित होकर आचरण करता है। इसलिए न्यायाधीश को बहुत कुछ न्याय के उद्देश्य को देखना पड़ेगा।

विशिष्ट न्याय की कठिनाइयो को समझकर ही अरस्तू ने बतलाया कि इस प्रकार के न्याय की दो मुख्य परिस्थितियो मे आवश्यकता पडती है—(१) वितरण (Distribution) के लिए[१] तथा (२) सुधार के लिए।[२] वितरण-सम्बन्धी झगडे तब उठते है, जब विधान के अनुसार, जिसको जितना मिलना चाहिए था, उतना नही मिलता। सुधार (Rectification) सबंधी न्याय की आवश्यकता लेन-देन के मामलो में, चोरी, पर-स्त्रीगमन आदि गुप्त अपराधो में तथा मारपीट हत्या, डकैती आदि हिंसात्मक अपराधों मे होती है।

वितरण की समस्या का विश्लेषण कर अरस्तू ने कहा कि ये झगड़े तभी होते हैं, जब समान भाग के अधिकारियो को असमान भाग और असमान भाग के अधिकारियो को समान भाग मिलते है। न्यायाधीश योग्यता के अनुपात मे विभाजन कर ऐसे मामलो का न्याय कर सकता है।[३] अरस्तू का यह सुझाव तो बहुत अच्छा है किन्तु प्रश्न यह उठता है कि योग्यता (Merit) का निर्णय कैसे करे। योग्यता को अरस्तू भी कोई निश्चित अर्थ न दे सका। उसने तीन दृष्टिकोण[४] बताये। जनतन्त्र (Democracy) के समर्थक उसके समय मे स्वतत्र नागरिक और दास मे भेद करते थे। दास मे किसी प्रकार की योग्यता नही समझी जाती थी और न यूनान के विधान मे उसका कोई भाग था। स्वतत्र नागरिको की योग्यता का मापदंड उनकी सामाजिक स्थिति थी। अल्पजन-शासन (Oligarchy) के

१. एथिका निको०, ५, ३। २. एथिका निको०, ५, ४
३. एथिका निको०, ५, ३—११३१ ए, २५
४. एथिका निको०, ११३१ ए, २७

दृष्टिकोण से योग्यता का अर्थ आर्थिक स्थिति तथा उच्चकुल में जन्म लेना समझा जाता था। कुलीन शासन के अनुसार योग्यता का अर्थ दक्षता समझा जाता था। अरस्तू ने वितरण-सबधी न्याय (Distributive justice) की चर्चा करते हुए योग्यता का कुछ न कुछ अर्थ निर्धारित करना आवश्यक बतलाया था। अन्य प्रसगो से पता चलता है कि वह जनतत्र को अन्य शासनों से अच्छा समझता था। इसलिए अनुमान किया जा सकता है कि नागरिकों को विधान के अनुसार मिले हुए सम्मान आदि सामाजिक स्थिति के अनुरूप होने पर, अरस्तू के मत मे, विभाजन-न्याय का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

सुधार-सबधी न्याय की आवश्यकता तब होती है जब एक नागरिक दूसरे पर किसी न किसी प्रकार से हानि पहुँचाने का दोषारोपण करता है। इस स्थिति मे न्याय का पहला उत्तरदायित्व आरोप की सत्यता अथवा असत्यता का निर्धारण होता है। अरस्तू के अनुसार कथित अपराधी की चार अवस्थाएँ हो सकती हैं। पहली अवस्था यह हो सकती है कि अपने कर्म के जिस फल के कारण वह अपराधी ठहराया जा रहा है वह अवांछित रूप से प्राप्त हुआ हो, तथाकथित अपराधी ने स्वप्न मे भी उस फल की कल्पना न की हो। इस अवस्था में उसे अपराधी न मानकर, दुर्घटनाग्रस्त मानना चाहिए। दूसरी अवस्था यह हो सकती है कि हानिकारक फल की आशका होने पर भी कर्त्ता ने किसी अहित की कल्पना न की हो और कर्म कर बैठा हो। इस दशा में उसके कर्म को अपराध न मानकर भूल मानना उपयुक्त होगा। तीसरी स्थिति यह हो सकती है कि कर्त्ता ने बिना विचार किये ही कर्म कर डाला हो, यद्यपि उसकी मानसिक स्थिति ऐसी थी कि विचार कर वह फलाफल का ज्ञान कर सकता था। ऐसी स्थिति में कहा जायगा कि अपराधी न होने पर भी उसने अपराध किया है। एक चौथी स्थिति में किसी कर्म के कर्त्ता को पूरा अपराधी ठहराया जा सकता है। वह स्थिति जान-बूझकर, हानि पहुँचाने के उद्देश्य से कर्म करने की है।

१. एथिका निको०, ११३५ बी, १५-२५

अरस्तू के इस विवेचन मे भी अनैच्छिक और ऐच्छिक कर्म के अतर की बात है। न्याय का पहला उत्तरदायित्व यह पता लगाने का है कि जिसे अपराधी ठहराया जा रहा है वह अनैच्छिक कर्म का कर्त्ता है, अथवा ऐच्छिक कर्म का। किसी कर्त्ता पर उसके कर्म के फल का उत्तरदायित्व तभी हो सकता है, जब उसने विचारपूर्वक सकल्प करने के बाद कर्म किया हो। अरस्तू की बनायी हुई, ऊपर की चार स्थितियो मे से दो—दुर्घटना और भूल की स्थितियाँ—परिस्थिति के अपूर्ण ज्ञान की, अथवा अज्ञान की स्थितियाँ है। तीसरी स्थिति वह है जिसमे कर्त्ता को परिस्थिति का ज्ञान रहता है, किन्तु वह हानिकारक कर्म का सकल्प नही करता। इसी लिए अपराध करने पर भी, अरस्तू ने उसे अपराधी नही माना था। चौथी स्थिति उस प्रकार के कर्म की है जिसमें कर्त्ता को मालूम रहता है कि वह हानिकारक कर्म करने जा रहा है और फिर भी वह उसका सकल्प करता है। यही पूर्ण अनैतिक कर्म है।

अरस्तू के न्याय-सबधी विवेचन से हमें निषेधात्मक (Negative) ढंग से नैतिक कर्म का स्वभाव मालूम हो गया। अन्य नैतिक गुणो के विवेचन से नैतिक कर्म का भावात्मक (Positive) ज्ञान हुआ था और हमने यह समझा था कि किसी कर्त्ता के कर्म को नैतिक मानने के लिए, उत्तरदायित्व का निर्णय आवश्यक है। विशिष्ट न्याय के विवेचन मे अनैतिक कर्म के सबध में भी वही बात मालूम हुई। दोनो को मिलाकर एक बात और मालूम हो गयी कि कुछ ऐसे भी कर्म होगे, जिन्हे उत्तरदायित्व सिद्ध न कर पाने के कारण, नैतिक अथवा अनैतिक वर्गो में से किसी में नही रखा जा सकेगा। वे कर्म नैतिक विवेचन के क्षेत्र मे नही आ सकेगे, क्योकि उनका कर्तृत्व निर्धारित नही हो सकता।

इन तमाम बातों को जान लेने पर भी एक बहुत ही आवश्यक प्रश्न का उत्तर प्राप्त करना शेष रह जाता है। नैतिक गुणो के विवेचन मे अरस्तू ने बराबर इस बात पर जोर दिया है कि किसी भी दी हुई परिस्थिति मे विशिष्ट कर्म का आदेश व्यवहार-बुद्धि से, बौद्धिक नियम से अथवा विवेक से प्राप्त होगा। जैसे क्रोध की स्थिति मे यह जान लेना पर्याप्त नही है कि क्रोध

आयु के लोगों को शोभा नहीं देता। केवल युवकों के लिए लजाना उपयुक्त है, क्योंकि अनुभव की कमी के कारण वे यदि कोई गलत काम कर डालने पर लज्जा का अनुभव करते हैं, तो यह समझा जाता है कि उन्होंने संकल्प सहित बुराई नहीं की है। इसी से युवकों में 'लज्जा' होना अपेक्षित है। अन्य रूपों में यह कोई वाञ्छनीय चारित्रिक विशेषता नहीं है।

बौद्धिक गुण (Intellectual Virtue)

अरस्तू ने मानवीय गुणों को दो समूहों में बाँटकर, प्रथम समूह के गुणों को चरित्र-सम्बन्धी और दूसरे समूह के गुणों को आत्मा-सम्बन्धी कहा था। पहले समूह के गुणों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। अब हमें दूसरे समूह के गुणों का अध्ययन करना है। यह अध्ययन कई प्रकार से आवश्यक है—(१) अरस्तू ने चरित्र के गुणों के प्रसंग में बराबर कहा है कि चरित्र का संतुलन 'उचित नियम' पर निर्भर है और यह नियम आत्मा अथवा बुद्धि (Reason) से, जो आत्मा का ही एक विभाग है, प्राप्त किया जा सकता है। (२) भले जीवन का स्वरूप बतलाते हुए उसने कहा था कि यह गुणों के अनुसार अथवा उनमें से सर्वश्रेष्ठ गुण के अनुसार कार्य करने पर निर्भर है। निश्चय ही आत्मा के गुणों का ज्ञान श्रेष्ठ गुणों का ज्ञान है और हमें इनका अध्ययन करना चाहिए।

आत्मा के विभाग

अरस्तू ने आत्मा को बौद्धिक तथा अबौद्धिक, इन दो विभागों में बाँटकर बौद्धिक के फिर दो विभाग किये[1]—(क) वैज्ञानिक विभाग जो अपरिवर्तनशील वस्तुओं के मूल कारणों पर विचार करता है और (ख) चिंतनशील विभाग, जो परिवर्तनशील वस्तुओं के कारणों की खोज करता है। तब उसने बतलाया कि इन दोनों विभागों का कार्य सत्य की खोज करना है और वे स्थितियाँ, जिनके माध्यम से आत्मा के विभाग अपने उद्देश्यों को प्राप्त करते

१. एथिका निको०, ११३९ ए, ३

है, उन विभागो के गुण है।[1] इस प्रकार बुद्धि के गुणो का अध्ययन आत्मा के दोनो विभागो की स्थितियो अथवा दशाओं के अध्ययन मे परिणत हो जाता है।

इस अध्ययन का नैतिक गुणों के अध्ययन से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अरस्तू आत्मा के तीन मुख्य तत्त्वो के कार्यो को बतलाता है। ये तीन प्रमुख तत्त्व सवेद, बुद्धि और इच्छा है। कर्म का मूल इच्छा मे रहता है, किन्तु कर्म नैतिक तभी हो सकता है जब स्वतंत्र इच्छा से नही, बल्कि बुद्धि से अनुशासित इच्छा के द्वारा शुभ कर्म का चुनाव किया गया हो। इस प्रकार नैतिक कर्म मे इच्छा और बुद्धि का समन्वय हो जाता है।[2] अतएव आत्मा की दशाओ का अध्ययन अपेक्षित है।

आत्मा की पाँच दशाएँ

अरस्तू आत्मा की पाँच दशाएँ—कला, विज्ञान, व्यावहारिक ज्ञान, दार्शनिक ज्ञान तथा प्रातिभ ज्ञान बतलाता है।

(१) कला

कला वह बौद्धिक दशा है, जिसमे मनुष्य मे उन वस्तुओ के निर्माण की क्षमता उत्पन्न होती है जिनका होना अथवा न होना उसके सकल्प पर निर्भर रहता है। कला का विषय नित्य वस्तुओ का निर्माण नही है।[3]

(२) विज्ञान

वैज्ञानिक अध्ययन की वस्तुएँ अनिवार्य रूप से स्थित रहती है, इसलिए विज्ञान की शिक्षा दी जा सकती है। किन्तु शिक्षा ज्ञात से अज्ञात की ओर प्रवृत्त होती है। आगमन को वैज्ञानिक शिक्षा का माध्यम नही माना जा सकता, क्योंकि आगमन से केवल अध्ययन के निमित्त प्राथमिक सत्य प्राप्त होते है। शिक्षा का दूसरा माध्यम तार्किक न्याय हो सकता है। वह निगमन-

१. एथिका निको०, ११३९ ए, १५, १७ २. ११३९ ए, २४
३ ११४० ए, ९

पद्धति अथवा न्याय-पद्धति को ही पूरे विज्ञान का स्थानापन्न बनाकर, विज्ञान की परिभाषा करते हुए, उसे बौद्धिक दशा बतलाता है, जिसमे वस्तुओं की व्याख्या की जाती है।[१]

(३) व्यावहारिक ज्ञान

व्यावहारिक ज्ञान को स्पष्ट करने के लिए अरस्तू व्यवहार-कुशल व्यक्ति की विशेषताए बतलाता है। वह कहता है कि उसी व्यक्ति को व्यवहार-कुशल माना जाता है, जो किसी विशिष्ट प्रसग मे नही, बल्कि सामान्यत पूरे जीवन के प्रसग में शुभ अथवा उपयोगी वस्तुओं का ज्ञान रखता है। वह अपने ही शुभो का नही, बल्कि सबके शुभो का ज्ञान रखता है।[२] इस प्रकार वह यह निर्णय करता है कि व्यावहारिक ज्ञान वह बौद्धिक दशा है, जिससे मानवीय शुभो का ज्ञान होता है।[३]

अरस्तू व्यावहारिक ज्ञान और कला में भेद करते हुए कहता है कि यह गुण है, कला नही है।[४] फिर वह कहता है कि आत्मा के दो विभाग हैं, जो तर्क के मार्ग पर चल सकते है। व्यावहारिक ज्ञान उन दो विभागों में से एक का गुण है। इसे वह उस विभाग का गुण बतलाता है, जिसका काम सम्मति देना है।[५] इसी के द्वारा कर्म-सम्बन्धी सामान्य नियमो और उनके विशिष्ट प्रयोगो का ज्ञान होता है, किन्तु कर्म के क्षेत्र मे प्रयोग अधिक आवश्यक है।[६] अरस्तू के मत से व्यावहारिक ज्ञान अनुभव की अपेक्षा करता है।[७]

व्यावहारिक ज्ञान के वह कई रूप बतलाता है। (क) परिवार का प्रबन्ध व्यावहारिक ज्ञान है, (ख) नगर-राज्य का नियमन व्यावहारिक ज्ञान है तथा (ग) नागरिको को न्याय देना व्यावहारिक ज्ञान है।[८] पर इन रूपो

१. ११३९ बी, १८-३५ २. ११४० ए, २५
३. ११४० बी, १ ४. ११४० बी, २५
५. ११४० बी, २९ ६. ११४१ बी, १४, २० के नीचे
७. ११४२ ए, १५ ८. ११४१ बी, ३०

की ओर संकेत कर, वह यह भी बतलाता है कि ये व्यावहारिक ज्ञान के विशिष्ट रूप हैं। व्यावहारिक ज्ञान वह सामान्य बौद्धिक क्षमता है, जो मानवीय व्यवहार के किसी भी विशिष्ट प्रसंग मे कर्म का सुझाव दे सके।

(४) दार्शनिक ज्ञान

यह ज्ञान व्यावहारिक ज्ञान से भिन्न है। दार्शनिक ज्ञान मे प्राथमिक सत्यों तथा उनके निष्कर्षों की उपलब्धि होती है। इसके द्वारा मानवीय शुभो का ही नही, वरन् सम्पूर्ण जगत् के शुभो का ज्ञान होता है। इसलिए यह ज्ञान व्यावहारिक ज्ञान से भी श्रेष्ठ है। दार्शनिक ज्ञान मे वैज्ञानिक ज्ञान तथा प्रातिभ ज्ञान, दोनो का समाहार हो जाता है। यह व्यावहारिक ज्ञान से इसलिए भी भिन्न है कि यह दूसरे विभाग का गुण है। इसी लिए थेलीज और एनेक्जागोरस आदि दार्शनिको को व्यावहारिक ज्ञान न था।

(५) प्रातिभ ज्ञान (Intuition)

यह एक प्रकार का आन्तरिक प्रत्यक्ष है, जिसके द्वारा विशिष्ट तथ्यो के दर्शन मे उनमे निहित सामान्य का ज्ञान हो जाता है।[१] अरस्तू इसी के द्वारा आगमनात्मक सत्यों की उपलब्धि सभव मानता था। किन्तु सामान्य सत्य का ज्ञान विशिष्ट तथ्यो के प्रत्यक्ष पर निर्भर है। इसलिए वह प्रातिभ ज्ञान का दोनो से सम्बन्ध जोड़ता है। किन्तु अरस्तू प्रातिभ ज्ञान को व्यावहारिक ज्ञान से भिन्न बताता है, क्योकि प्रातिभ ज्ञान का सामान्य सत्य से अधिक सम्बन्ध है और व्यावहारिक ज्ञान का विशिष्ट व्यक्तियो से।

अरस्तू के उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष ठीक जान पडता है कि व्यावहारिक ज्ञान को ही वह बौद्धिक गुण मानता था, जो कर्म-सम्बन्धी निर्णय देता है। पर ऐसा नहीं है। अरस्तू इन सभी गुणों के मुख्य कार्यो को बताकर उनमे पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था।

उसका कथन है कि मनुष्य मे तीन गुण स्वभावत. होते है। ये तीनो समझ, निर्णय और प्रातिभ ज्ञान है।[२] व्यावहारिक ज्ञान की वस्तुओ से इन

८. ११४० बी, १६ १. ११४२ ए, २५ के नीचे
२ ११४३ बी ७

तीनो का सम्बन्ध है। बिना विशिष्ट वस्तुओ तथा परिस्थितियो को समझे हुए कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्णय सम्भव नही है। निर्णय के ही द्वारा उचित और अनुचित में भेद किया जा सकता है। प्रातिभ ज्ञान के बिना व्यावहारिक स्थितियो मे प्रयुक्त किये जानेवाले सामान्य नियम का ज्ञान सभव नही है, क्योंकि प्रातिभ ज्ञान के ही द्वारा विशिष्ट अनुभवो से सामान्य नियम प्राप्त किये जाते हैं।

दार्शनिक ज्ञान मे वह प्रातिभ ज्ञान और विज्ञान का सयोग बता चुका है। अब वह कहता है कि सुख दार्शनिक ज्ञान मे ही उत्पन्न होता है। यही मनुष्य के जीवन का अंतिम उद्देश्य है। व्यावहारिक ज्ञान नैतिक कर्मो के चुनाव के निमित्त नियम देता है। नैतिक गुण उन नियमो पर चलने मे सहायक होते हैं। इस प्रकार अरस्तू से हम यह सीख पाते है कि मनुष्य के जीवन की पूर्णता इन सभी की सहकारिता पर निर्भर है।[१]

सयम (Continence) और असंयम (Incontinence)

अरस्तू सयम और असयम के विवेचन से नैतिक जीवन की एक मुख्य कठिनाई पर प्रकाश डालता है। संयमी व्यक्ति मिताचारी से भिन्न होता है। मिताचारी को वासनाएँ नही सताती, किन्तु सयमी को वे सताती है। फिर भी वह 'उचित नियम' के अनुशासन को मानकर उनका निरोध करता है।[२] असयमी भी 'उचित नियमो' को जानता है अपनी वासनाओ के दोषो को भी जानता है, किन्तु कर्म का चुनाव करते समय वह वासनाओ के प्रवाह मे बह जाता है।[३] नैतिक आचरण की यही तो बडी भारी कठिनाई है कि सब कुछ समझते हुए भी सामान्य मनुष्य नैतिक कर्म का चुनाव नही कर पाता।

इस प्रसंग मे अरस्तू तीन प्रश्नो पर विचार करता है—(१) असयमी को ज्ञान होता है या नही? (२) असयम के विषय क्या है? और (३) सयम और सहनशीलता मे क्या सम्बन्ध है?

१. पु० ६, अ० १३ २. ११५१ बी, ३२–११५२ ए, ३
३. ११५२ ए, ४

पहले प्रश्न के उत्तर में अरस्तू कहता है कि असयमी को आंशिक ज्ञान रहता है। यह जानना कि अमुक प्रकार का भोजन निषिद्ध है, उचित कर्म में प्रवृत्त करने के लिए काफी नही है। इस सामान्य नियम के ज्ञान के साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि प्रस्तुत भोजन उसी प्रकार का है, जिसका नियमत. निषेध करना चाहिए।[1] अरस्तू का उद्देश्य आशिक रूप से सुकरात के कथन को स्वीकार करना मालूम होता है। सुकरात ने कहा था कि ज्ञान होने पर मनुष्य उससे विरुद्ध कार्य नही कर सकता।

अरस्तू ने परिस्थिति का विश्लेषण अच्छा किया है। ज्ञान होते हुए भी अनैतिक कर्म किये जाते हैं, किन्तु उत्तर उपयुक्त नहीं है। अच्छा होता कि अरस्तू ने ज्ञान और सकल्प के विभागो में समन्वय की कमी को इस अचारण का कारण बतलाया होता।

दूसरे प्रश्न पर विचार करते हुए अरस्तू तीन प्रकार की वस्तुओ को क्षणिक सुख देनवाली बतलाता है।[2] कुछ वस्तुएँ जीवन के लिए आवश्यक न होने पर भी पसन्द करने के योग्य होती है, किन्तु उनके प्राप्त करने मे अधिकता हो जाना स्वाभाविक है, जैसे विजय, सम्मान, धन इत्यादि। दूसरी वस्तुएँ त्याज्य होती है और तीसरे प्रकार की वस्तुएँ जीवन के लिए आवश्यक होती हैं, किन्तु उनकी प्राप्ति मे अधिकता हो जाने का भय रहता है। असंयमी इन्ही तीसरी प्रकार की वस्तुओ के उपभोग मे असयम कर जाता है। यहाँ भी नैतिक समस्या स्पष्ट होती है। स्पर्श और स्वाद की वस्तुओं के उपभोग में उचित से अधिक का निषेध न कर पाना ही असयम है।[3] यहाँ नैतिक आचरण में दृढ संकल्प की आवश्यकता का भान होता है।

अरस्तू सयम और सहनशीलता पर तुलनात्मक दृष्टि डालता है। उसके विचार से सहनशीलता का अर्थ केवल विरोध करना है, किन्तु सयम का अर्थ विजय प्राप्त करना है।[4] यह सहनशीलता से बढ़कर है। सहनशीलता की विरोधी स्थिति नम्रता है। संयम की असयम।

१. ११४७ ए, २५–बी, २ २. ११४७ बी, २३
३ ११४८ ए, ९ ४ ११५० ए ३२

इस विवेचन मे हमें संयम और असंयम के विषय मे यह संकेत मिलता है कि दोनों मे ज्ञान का अतर नही है, बल्कि ज्ञान के अनुरूप कर्म के सकल्प मे है। असंयमी जानता है, पर कर नही पाता, क्योंकि उसमें वासनाओं पर विजय पाने के लिए जिस संकल्प के बल की आवश्यकता होती है, वह नही रहता। संयमी जानता भी है और सकल्प के बल से वासनाओ पर विजय भी प्राप्त करता है। यहाँ आचरण-सम्बन्धी अच्छा सुझाव है।[1]

मैत्री

अन्त में अरस्तू मैत्री (Friendship) की प्रकृति पर विचार करता है। उसने इस विषय को 'एथिका निकोमैकिया' के दो भागों मे दिया है। यहाँ पर अरस्तू के सभी विचारो को दे पाना कठिन है। केवल मुख्य-मुख्य बातो को ही दिया जा सकता है।

मित्रता की प्रशंसा में वह कहता है कि इसमे एक-दूसरे के प्रति भलाई करने का अवसर मिलता है। निर्धनता तथा दूसरे प्रकार की मुसीबतो में मित्रो की ही शरण ली जाती है। मित्रता बाल, युवा और वृद्ध, सभी के लिए हितकर है। यह बालकों को भूलें करने से बचाती है, युवकों को सम्मान के योग्य कर्मों को करने की प्रेरणा देती है और वृद्धो को सामर्थ्य की कमी का अनुभव नही होने देती है। मित्रता की सबसे बड़ी अच्छाई वह यह बतलाता है कि मित्रता सोचने और कर्म करने के लिए प्रेरित करती है।[2]

इस भूमिका के बाद वह वास्तविक और अवास्तविक मित्रता में भेद करता है। वह बतलाता है कि तीन उद्देश्यो से मित्रता की जा सकती है—(१) उपयोगिता के उद्देश्य से, (२) आह्लाद के लिए और (३) भलाई के विचार से। इनमे से दो प्रकार की मित्रता वास्तविक नही है, केवल आकस्मिक है। उपयोगिता और आह्लाद के विचार से मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करनेवाले एक-दूसरे को उस तरह से नही चाहते जैसे एक भला आदमी दूसरे को चाहता है। आगे चलकर वह बतलाता है कि सच्ची मित्रता केवल दो

१. ११५५ ए, ७, १०, ११-१५। २. ११५५ बी, १६

नैतिक व्यक्तियो के बीच हो सकती है। वे एक-दूसरे के गुणो से आकर्षित होते है, किसी लाभ की आशा से नही।

इस भेद को स्पष्ट करने के लिए अरस्तू नियमित और नैतिक मित्रता मे अंतर करता है।[1] नियमित मित्रता (Legal Friendship) किन्ही आदान-प्रदान की शर्तो पर की जाती है, नैतिक मित्रता (Moral Friendship) की कोई शर्त नही होती। यह एक प्रकार की साझेदारी है, जिसमे एक व्यक्ति दूसरे के साथ वही व्यवहार करता है, जैसा वह अपने साथ करता है।[2] प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का कुछ न कुछ अर्थ समझता है। सच्ची मित्रता मे वह अपने मित्र के जीवन का भी वही अर्थ समझता है। समझ से ही कर्मो की उत्पत्ति होती है। इसलिए दो व्यक्ति जीवन का जो मूल्य आँकते है, उसी के अनुसार मित्रता होने पर एक-दूसरे को उन मूल्यो की प्राप्ति मे साझी बनाते है। यही कारण है कि अच्छे मनुष्यो की मित्रता अच्छाई की ओर और बुरे आदमियो की मित्रता बुराई की ओर ले जाती है। मित्रता मे चाहे वह जिस प्रकार की हो, समानता, सहधर्मिता और एकात्मकता की भावनाएँ अनिवार्य रूप से रहती है।[3] इसी लिए जिस प्रकार के उद्देश्यवाले लोगो मे मित्रता होती है, उसी प्रकार के उद्देश्यो की पूर्ति में वे एक-दूसरे के सहायक होते हैं। अरस्तू का सुझाव यह है कि मित्रता के उपर्युक्त गुणो के कारण वह दो नैतिक व्यक्तियो के बीच की कडी बनकर दोनों के नैतिक जीवन की अभिवृद्धि करती है। इसी सम्बन्ध से नैतिक विषयों पर विचार करते हुए अरस्तू ने अपने साहित्य मे मित्रता का विवेचन किया है।

सुख की प्रकृति[4]

पुस्तक के अन्तिम भाग मे अरस्तू सुख को सर्वश्रेष्ठ गुण के अनुसार की जानेवाली क्रिया बतलाकर इसे परम शुभ कहने का प्रयत्न करता है।

१. ११६२ बी, २५।   २. ११७१ बी, २९ (अ० १२)
३. ११५९ बी, २; ११६६ ए, १०
४ पु० १०-अ० ६-११७७ ए, १-१०: अ० ७ और ८

वह सुख से क्षणिक आनन्द का भेद करता है। क्षणिक आमोद-प्रमोद में वह निरन्तरता नही है, जो मनुष्य के जीवन को सुखी बना सके। सुखी जीवन में गुण माना जाता है और गुण का स्वभाव कर्म मे प्रेरित करता है। आमोद-प्रमोद का उद्देश्य क्रिया को स्थगित करके विश्राम करना है। इस प्रकार सुख और क्षणिक आनन्द या मन-बहलाव मे स्वभाव का अन्तर स्पष्ट है।

अरस्तू के अनुसार सच्चा सुख वही है, जिसका कही बाध न हो। क्षणिक आनन्द मे आजीवन लिप्त नही रहा जा सकता। निरतर वही कर्म किया जा सकता है, जो सर्वश्रेष्ठ तत्त्व के अनुकूल हो। मनुष्य मे सर्वश्रेष्ठ अंश आत्मा का वह विभाग है, जो सत्य का चितन करता है। सत्य का चितन ही ऐसी क्रिया है, जो आत्म-निर्भर है। शेष सभी क्रियाओ के लिए अन्य वस्तुओ और व्यक्तियो की आवश्यकता होती है। अन्य क्रियाओ में शारीरिक श्रम होता है, इसलिए उन्हे रोककर मन को थोडी देर आह्लादित करने की आवश्यकता होती है, किन्तु सत्य के चिन्तन मे बराबर ही मन प्रसन्न रहता है। इस प्रकार, निरतरता और आत्म-पूर्णता दोनो ही गुण इसमे विद्यमान हैं।

अरस्तू ने प्रारभ मे तीन प्रकार के जीवन बतलाकर दार्शनिक के जीवन को सर्वश्रेष्ठ कहा था। अन्तिम भाग मे, सुख को इसी जीवन का सहगामी बताकर, उसने सत्य के चितन और जीवन के सुख को सह-अस्तित्व सिद्ध किया। अब प्रश्न यह उठता है कि चितन और सुख में से परम शुभ क्या है? अरस्तू का उत्तर स्पष्ट नहीं है। परम शुभ के उसने दो लक्षण बतलाये थे—निरंतरता और आत्म-पूर्णता। सत्य का चितन और, उसका सहवर्त्ती होने से, सुख, दोनो ही परम शुभ प्रतीत होते हैं। अरस्तू सुख को भी क्रिया कहकर समस्या को और जटिल बना देता है। किन्तु, हमे क्रिया और उसके साथ-साथ वर्त्तमान रहनेवाली अनुभूति में अतर करना पड़ेगा। चितन सर्वश्रेष्ठ बौद्धिक गुण है। इसके द्वारा सत्य का चितन किया जाता है, सुख का नहीं। इसलिए वह सत्य ही परम शुभ है, जिसकी प्राप्ति के लिए चितन किया जाता है। सुख वह अनभूति है, जो हमें सत्य के चितन में लगाये रखती है।

किन्तु अरस्तू यूनानी चिंतन-परंपराओं से प्रभावित था। सुखवाद का बौद्धिक रूप सुकरात के विचारों में भी पाया जाता था। इसीलिए चिंतन और सुख की अनुभूति को सह-अस्तित्व कहकर इसको ही उसने परम शुभ मानने का प्रयत्न किया था।

अध्याय १०

राजनीति शास्त्र

अरस्तू के नीति-शास्त्रीय विवेचन मे हमे नैतिक जीवन के दो आदर्श दिखाई दिये थे, एक सर्वोच्च आदर्श था, जिसे सभी मनुष्य प्राप्त नही कर सकते और दूसरा आदर्श ऐसा था, जिसे व्यवहार मे उतारा जा सकता है। अरस्तू के अनुसार, पूर्ण नैतिक जीवन व्यतीत करने के लिए, अपने सपूर्ण जीवन को चितन मे लगा देने की आवश्यकता है पर यह मार्ग सबके लिए सुगम नही है। इसलिए अरस्तू ने सामाजिक नैतिकता का उपदेश किया। उसने कुछ सतुलित व्यवहारो के उदाहरण दिये और कहा कि नैतिक शिक्षा और नैतिक नियमों के सहारे चलकर सभी लोग सामान्य नैतिक जीवन व्यतीत कर सकते है। इस प्रकार की नैतिकता के लिए शिक्षा और नियमन की आवश्यकता होने से, सामान्य नैतिक जीवन का उत्तरदायित्व राज्य की शासन-व्यवस्था पर आ पडा था और हम इस सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि नागरिकों का नैतिक होना उचित शासन-व्यवस्था पर निर्भर रहता है।

अरस्तू के राजनीति शास्त्र मे भी हमे उपर्युक्त विचार का निर्वाह मिलता है।[1] उसका कथन है कि पूर्ण नैतिक व्यक्ति ही राज्य के उच्चतम आदर्श का निर्वाह कर सकता है। पर, यहाँ भी वही कठिनाई है कि ऐसे व्यक्ति बार-बार नही मिलते। इसलिए, अरस्तू ने यह सम्मति दी कि यदि कोई ऐसा व्यक्ति किसी राज्य मे हो तो उसे राजा मानकर, जब तक वह जीवित रहे उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए।[2] वह यहाँ तक कह जाता है कि पूर्ण

१. अरस्तू की 'पॉलीटिका' की तीसरी पुस्तक के १३वें अध्याय में, १२८४ ए से अध्याय के अंत तक पढ़िए

२. पॉलीटिका, ३, १३, १२८४ बी, ३१

नैतिक व्यक्ति को राज्य-सचालन का भार न सौपकर, आपस मे बॉट लेना, जियस के अधिकारो का अपहरण करना है।[1] ऐसे व्यक्तियो के पथ-प्रदर्शन के लिए, अरस्तू किसी नियम आदि की आवश्यकता नही समझता था। उसका कहना है कि उन्हें मनुष्यो मे देवता समझना चाहिए और उनके आदेशो को ही नियम समझना चाहिए।[2]

अरस्तू के उपर्युक्त विचार पर प्लेटो का प्रभाव स्पष्ट है। अरस्तू समझता था कि पूर्ण नैतिक व्यक्ति के हाथ में शासन की बागडोर रहने पर आदर्श राज्य के उद्देश्यो की पूर्त्ति हो सकती है। अरस्तू का पूर्ण नैतिक व्यक्ति दार्शनिक था। प्लेटो ने भी आदर्श राज्य की स्थापना के लिए दार्शनिक को राजा बनाने की सम्मति दी थी। यहाँ तक प्लेटो और अरस्तू सहमत थे। पर, अरस्तू ने अपने विचार को आगे बढाया। सामाजिक व्यवस्था के लिए, राज्य की सदैव आवश्यकता होगी; किन्तु शासन करने के लिए दार्शनिक सदेव न मिलेगा। यह सोचते ही, अरस्तू के सामने राज्य-व्यवस्था का प्रश्न फिर आ खडा हुआ।

अब, अरस्तू ने राज्य के उद्देश्यों पर विचार करना प्रारभ किया, क्योकि उसके राजनीति शास्त्र की समस्या अब यह देखने की थी कि राज्य के उद्देश्यो की अधिकतम पूर्त्ति किस प्रकार की शासन-पद्धति मे हो सकती है। इसे हल करने के लिए, अरस्तू ने राज्य के विकास पर ऐतिहासिक दृष्टि डाली। उसने देखा कि पुरुष और स्त्री के सयोग से परिवार बना और परिवार से ग्रामो का सगठन हुआ और तब राज्य बने। यह विकास बिना किसी उद्देश्य के सभव न था। प्राकृतिक अवस्था मे, पुरुषो और स्त्रियो के जीवन की मूलभूत समस्याएँ हल हो जाती, तो वे कभी परिवार न बनाते। इसी प्रकार परिवार उनकी समस्याओ को हल कर देता तो ग्रामो और राज्यो की व्यवस्थाएँ विकसित न होती। इसी विकास में, शासन-पद्धतियो के मूल रूप भी विकसित हुए। अरस्तू की बात समझी जा सकती है, इसलिए अरस्तू

१. पॉलीटिका, ३, १३, १२८४ बी, ३०
२. पॉलीटिका, ३, १३, १२८४ ए, १२

के राजनीति शास्त्र के मुख्य विचारों को जानने के लिए हमें उपर्युक्त विकास का अध्ययन करना चाहिए।

परिवार का विकास

अपने विवेचन के आरभ में, अरस्तू उस प्राकृतिक अवस्था की कल्पना करता है जिसमे पुरुष थे, स्त्रियाँ थी और पशु थे, पर कोई किसी का न था। यह अवस्था सदैव रहनेवाली न थी, क्योंकि अलग-अलग रहकर पुरुष और स्त्री मनुष्य-जाति को सुरक्षित नही रख सकते थे।[1] इसीलिए, पुरुष और स्त्री का सयोग हुआ और वे पति-पत्नी बने। यहीं पर, शासक और शासित का सबंध, पहले-पहल, उत्पन्न हुआ, क्योकि प्रकृति ने पुरुष को अपने उद्देश्यो को समझने की बुद्धि दी थी और स्त्री को, अपने शरीर द्वारा, उन उद्देश्यो को कार्यान्वित करने का सामर्थ्य दिया था।[2] इस प्रकार स्त्री और पुरुष के सामाजिक सबध से दो व्यक्तियो का परिवार बनता है और इसके बनते ही शासन-पद्धति का विकास प्रारभ हो जाता है, किन्तु यह सबध स्थापित होते ही समस्याएं बढ़ती है।

परिवार को जीविका चलाने के लिए अन्न की आवश्यकता होती है और पुरुष को खेती करनी पडती है। यहाँ पर उसे हल आदि निर्जीव यंत्रो की तथा किसी ऐसे सजीव साधन की आवश्यकता होती है जो उसका हल खीच सके। अब वह बैल को पकड़ता है। अरस्तू का कथन है कि बैल ही गरीब आदमी का दास है। यही से दासता की नीव पड़ती है।[3] बाद मे इसी बैल का स्थान अल्पबुद्धिवाले मनुष्यो को मिला। इस प्रकार दास के समावेश से परिवार मे स्वामि-सेवक-सबध की वृद्धि हुई। पुरुष और स्त्री के सबध से संतान उत्पन्न होती है और पुरुष पिता बनकर अपनी सतान का भी शासन करने लगता है, क्योंकि पूर्ण विकसित न होने के कारण बच्चे अपने हानि-लाभ की बाते नही समझते।

१. पॉलीटिका, १, २, १२५२ ए, २६
२. पॉलीटिका, १२५२ ए, ३१
३. पॉलीटिका, १२५२ बी, १०

इस प्रकार, स्वाभाविक रूप से परिवार का विकास हुआ। इस विकास का प्रारंभ पुरुष और स्त्री के अनिवार्य संबंधों से होता है। सामाजिक विकास के इस स्तर पर हम देखते हैं कि जिस संबंध से परिवार का विकास होता है वह दोनों के हित मे है, यद्यपि एक सदस्य शासन करता है और दूसरे को शासित होना पडता है। यह अंतर दोनों की भिन्न प्रकृति के कारण हो जाता है। परिवार की वृद्धि के साथ, दूसरी शासन-पद्धति विकसित होती है, जिसमे पिता अपनी संतान की भलाई के लिए उस पर शासन करता है। परिवार की तीसरी शासन-पद्धति इन दोनों पद्धतियो से भिन्न है। दास पर स्वामी अपने और अपने परिवार के हित के लिए शासन करता है। पर अरस्तू उसी को दास बनाने की सम्मति देता है, जो स्वभावत. इतना दुर्बुद्धि हो कि अपनी जीवन-संबंधी समस्याओ का हल स्वयं न निकाल सके।[1]

अरस्तू के परिवार के अध्ययन से तीन प्रकार की शासन-पद्धतियाँ, प्राप्त होती है---(१) पिता का शासन, (२) पति का शासन और (३) स्वामी का शासन। अरस्तू के अनुसार, पिता राजा की भाँति शासन करता है, क्योंकि उसका शासन प्रेम पर आधारित होता है। वह अपने अनुभव के कारण और अधिक आयु के कारण अपनी संतान से सम्मान प्राप्त करता है।[2] पति का शासन अरस्तू के अनुसार सांविधानिक है।[3] ये दोनो शासन स्वतंत्र व्यक्तियो पर किये जाते है। तीसरे प्रकार के शासन में, शासित स्वतंत्र नही रहता, क्योंकि वह स्वभाव से स्वतन्त्रता का अधिकारी नही है। इसी प्रसंग मे यह सूचित कर देना अनुपयुक्त न होगा कि अरस्तू दासता मात्र का समर्थक न था। वह कहता है कि युद्ध मे पराजित व्यक्तियो का दास बनाया जाना वैधानिक होने पर सभी व्यक्ति दास हो सकते है।[4] जो लोग बच गये है, वे केवल इसलिए कि उन्होने अथवा उनके पूर्वजो ने या तो कभी युद्ध मे भाग नही

१. पॉलीटिका, १२५४ बी, १८
२. पॉलीटिका, १२५९ बी, १०
३. पॉलीटिका, १२५९ बी, १
४. पॉलीटिका, १२५५ ए, २६

लिया या संयोगवश पकड़े नहीं गये। अगले कई प्रसंगों में अरस्तू के दासता-सम्बन्धी विचारों का उल्लेख हुआ है। जिनसे उसका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायेगा। यहाँ हमें राज्य और परिवार के सम्बन्धों पर अरस्तू के विचार समझ लेने हैं।

अरस्तू के शास्त्र में, परिवार राज्य की इकाई है; उसी में, स्वाभाविक रूप में, शासितों की प्रकृति के अनुसार तीन शासन-पद्धतियाँ विकसित होती हैं। वह बतलाता है कि इन्हीं परिवारों की वृद्धि होने पर वे ग्रामों में व्यवस्थित हुए, क्योंकि अकेला परिवार संपन्न नहीं हो सकता था और ग्रामों की वृद्धि होने पर कई ग्रामों ने मिलकर अपनी सुव्यवस्था के लिए राज्यों की स्थापना की। प्रारंभिक राज्य एक ही रक्त से उत्पन्न व्यक्तियों की व्यवस्था से बने थे, इसलिए प्रारंभिक शासन का रूप वही था जो परिवारों के शासन का था।[1] इस प्रकार वह राजतन्त्र के विकास को स्वाभाविक सिद्ध करता है।

राज्य के विकास की उपर्युक्त पीठिका प्रस्तुतकर अरस्तू राज्य के प्राकृतिक उद्देश्यों को स्पष्ट करता है। उसका कथन है कि केवल जीवित रहने के लिए, राज्य की आवश्यकता न थी।[2] उसका विकास तो व्यवस्थित और संपन्न जीवन के निमित्त हुआ था। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि मनुष्य ने व्यक्तिगत जीवन की पूर्णता के लिए परिवार बनाये, परिवारों की पूर्णता के लिए ग्राम और ग्रामों की पूर्णता के लिए राज्य बने। अतः राज्य की आवश्यकता केवल अपराधों को रोकने के लिए, अथवा युद्ध और संधि करने के लिए नहीं है।[3] राज्य परिवारों के समुदायों का समुदाय है, जिसमें व्यक्तिगत जीवन को पूर्णता प्राप्त होती है।[4] किन्तु हमें ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ तक अरस्तू ने उन प्रारंभिक राज्यों की विशेषताएँ बतलायी हैं, जिनका विकास एक ही मूल परिवार से हुआ था। इस प्रकार के राज्य न अब हैं और न अरस्तू के

१. पॉलीटिका, १२५२ बी, २०-२५
२. पॉलीटिका, १२८० ए, ३०
३. पॉलीटिका, १२८० बी, ३०
४. पॉलीटिका, १२८० बी ४०-१२८१ ए, १

समय में थे। इसलिए इससे केवल राज्य के तथा शासन के मुख्य उद्देश्य स्पष्ट हो जाते हैं। यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उसी तरह के राज्य स्थापित किये जा सकते हैं।

तीन शासन पद्धतियाँ

अरस्तू को तीन शासन-पद्धतियाँ ऐसी मिलीं, जो प्राचीन पारिवारिक, अथवा सामुदायिक शासन-व्यवस्था के समीप मानी जा सकती है। ये राज-तन्त्र, (Monarchy) कुलीन तन्त्र (Aristrocracy) तथा सांविधानिक शासन (Constitutional Government) हैं।

राजतंत्र

इनमें से प्रथम प्रकार का शासन तब उपयुक्त होगा, जब राज्य में कोई ऐसा व्यक्ति हो जो सबसे अधिक योग्य तथा नैतिक हो और उसका राज्य के सभी लोग पिता अथवा जाति के वृद्ध की भाँति सम्मान कर सकें।[1] किन्तु अरस्तू राज्य के अधिकारों को किसी वंश की संपत्ति बना देने के विरुद्ध था। उसका कहना है कि हम किसी नैतिक व्यक्ति की संतान को अनिवार्य रूप से नैतिक नहीं मान सकते।[2] राजतंत्र तभी सफल हो सकता है, जब राज्य संचालन का भार नैतिक व्यक्ति के हाथ में हो।

कुलीन तंत्र

अरस्तू का कुलीन तंत्र भी असंभव है। इसकी स्थापना तभी की जा सकती है, जब किसी राज्य में एक से अधिक नैतिक व्यक्ति हों। उसका कथन है कि अति प्राचीन काल में राज्य बहुत छोटे थे और उनमें एक से अधिक नैतिक व्यक्ति न थे। उस अवस्था में राजतन्त्रों की स्थापना हुई थी। बाद में, नैतिक व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि होने पर कुलीन तंत्रों का विकास हुआ।[3]

१. पॉलीटिका, १२८८ ए, १५; १२८४ ए, १२ तथा १२८४ बी, ३१
२. पॉलीटिका, १२८६ बी, २४
३. पॉलीटिका, १२८६ बी, ११

इस शासन-पद्धति के समर्थन मे, अरस्तू का कहना है कि एक अच्छे व्यक्ति के स्थान पर कई अच्छे व्यक्तियो को रख देने से शासन और भी अच्छा हो सकता है।[१] यहाँ वह कुलीनतत्र को राजतत्र से भी श्रेष्ठ बतलाता है। किन्तु ध्यान रखना होगा कि अरस्तू के शास्त्र मे कुलीन होने का अर्थ राजवश मे उत्पन्न होना, अथवा धनवान होना नही है। वह नैतिक व्यक्तियो के समूह द्वारा चलाये जानेवाले शासन को कुलीनतंत्र कहता है। इसमे सदेह नही कि इस प्रकार का शासन भी कल्पना की वस्तु है।

सांविधानिक शासन

तीसरा शासन, जो अरस्तू को प्राचीन परपराओ मे मिला, सांविधानिक शासन है। अरस्तू ने पारिवारिक शासन (Family management) की चर्चा करते हुए कहा था कि पत्नी पर पति का शासन सांविधानिक होता है। सांविधानिक शासन की प्रकृति बताते हुए, फिर, वह कहता है कि इस शासन मे नागरिकों की समानता (Equality) मानी जाती है। इसीलिए बहुत से सांविधानिक राज्यो मे नागरिक बारी-बारी शासन करते हैं।[२] तीसरी बार, इस शासन की विशेषताएँ बतलाते हुए, कहता है कि जिस शासन मे सभी नागरिक सबके हित को उद्देश्य बनाकर शासन करते है, वह सांविधानिक होता है।[३] इसी के दूषित रूप को अरस्तू जनतत्र कहता है। यहाँ तक अरस्तू की बात समझ मे आती है, किन्तु सांविधानिक शासन के विषय मे वह यह भी बतलाता है कि इसमे शासनसत्ता योद्धाओं के हाथ मे रहती है और वे ही नागरिक माने जाते है।[४] अब दो विरोधी विचार इकट्ठे हो जाते है। पहला यह कि सांविधानिक शासन सब के हित मे होता है और दूसरा यह कि इसमें नागरिक अधिकार केवल सैनिकों को दिये जाते है। यदि दूसरी बात ठीक है तो इसे भी दूषित

१. पॉलीटिका, १२८६ बी, ५
२. पॉलीटिका, १२५९ बी, ५
३. पॉलीटिका, १२७९ ए, ३७
४. पॉलीटिका, १२७९ बी, १

शासन मानना चाहिए। ऐसा लगता है कि इस शासन की बात करते हुए, अरस्तू प्राचीन समय के उन सैनिक समुदायों की बात कह रहा है, जिनमें सभी सैनिक होते थे और आपस में एक दूसरे को बराबर मानते हुए भी, कभी एक और कभी दूसरा सब का नेतृत्त्व करता था।

शुद्ध और दूषित शासन

अरस्तू ने ऊपर बताये हुए तीनों प्रकार के शासनों को शुद्ध कहा है। उसने इनके तीन विकृत रूप बतलाये हैं। राजतन्त्र का विकृत रूप निरकुश शासन (Despotic Rule) है, कुलीनतंत्र का विकृतरूप धनिक शासन और सांविधानिक शासन का विकृत रूप जनतन्त्र है। अरस्तू ने शुद्ध (Pure) और अशुद्ध (Perverted) का भेद दो बातों के आधार पर किया है। शुद्ध शासन में शासितों के हितो को दृष्टि मे रखा जाता है, अशुद्ध अथवा दूषित शासन शासक के हित मे होता है। शुद्ध शासनो मे निष्पक्ष न्याय होता है, अशुद्ध शासनो मे पक्षपातपूर्ण। नीचे दिये हुए विवरण मे यह भेद स्पष्ट हो जायेगा।

निरंकुश शासन

ऊपर कहा जा चुका है कि राजा वह है जो प्रजा पर उसी प्रकार शासन करता है जैसे पिता अपने पुत्रों पर। किन्तु राजा का स्थान यदि स्वार्थी व्यक्ति ले लेता है और अपने लाभ के लिए शासन करने लगता है, तो राजतन्त्र बिगड कर निरकुश शासन का रूप ले लेता है।[1] अरस्तू ने परिवार के शासन मे स्वामी और सेवक के संबंध की चर्चा की थी। जब राजा वही व्यवहार स्वतन्त्र नागरिको के साथ करने लगता है जो दास के साथ किया जाना चाहिए तो वह निरंकुश शासन हो जाता है।[2] निश्चय ही यह अनुचित शासन है क्योंकि इसमें स्वतंत्र व्यक्ति के साथ परतंत्र-जैसा व्यवहार होता है।

१. पॉलीटिका, १२७९ बी, ६
२ पॉलीटिका १२७९ बी, १५

धनिक-शासन

दूसरा विकृत शासन धनिक शासन है। इसे अल्पजन-शासन भी कहा जाता है, किन्तु अरस्तू थोड़े व्यक्तियों के हाथ में शासनसत्ता का होना इसकी विशेषता नहीं मानता था। उसका कहना था कि थोड़े व्यक्तियों का शासन हो, अथवा बहुतों का, यदि यह मान लिया जाता है कि शासन का अधिकार उन्हीं लोगों को है, जिनके पास बड़ी-बड़ी सम्पत्तियाँ हैं तो कुलीन-शासन का विकृत रूप उत्पन्न हो जाता है।[१] इस शासन में नागरिक अधिकार (Right of Citizenship) केवल धनी व्यक्तियों को मिलते हैं, इसीलिए यह दूषित शासन है।

जनतंत्र

तीसरा विकृत शासन जनतंत्र है। यह अशिक्षितों और निर्धन लोगों को शासन का अधिकार देता है।[२] इस शासन को भी विकृत कहने का, अरस्तू का कारण, इसमें निष्पक्ष न्याय की कमी है। धनिक शासन संपत्ति की असमानता को पूर्ण असमानता मान लेता है और जनतंत्र जन्मसिद्ध समानता को पूर्ण समानता मान लेता है।[३] इसलिए दोनों ही न्याय के आधार को खो देते हैं।

शासन-समस्या का हल

इस प्रकार अरस्तू ने तीन शुद्ध शासनों को सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल न होने के कारण अनुपयुक्त ठहरा दिया और तीन शासनों को उनके विकृत न्याय के कारण। शुद्ध शासनों में से राजतंत्र दो ही दशाओं में सफल हो सकता है। या तो राज्य एक ही वंश से उत्पन्न व्यक्तियों का समुदाय हो, या राजा पूर्ण नैतिक व्यक्ति हो जिनमें से एक भी दशा वर्तमान राज्यों में नहीं मिलती। कुलीनतंत्र में यही कठिनाइयाँ कई गुनी हो जाती हैं। सांविधानिक

१. पॉलीटिका, १२८० ए, १-४
२. पॉलीटिका, १२७९ बी, १७,
   पॉलीटिका, १२८० ए, २।
३. पॉलीटिका, १२८० ए, २१

शासन केवल सैनिक समुदायो के लिए उपयुक्त था, इसलिए उसका भी प्रश्न नही उठता। अब बचते है तीन विकृत शासन। इनमे से निरकुश शासन किसी दशा मे स्वीकृत नही हो सकता, क्योकि उसके द्वारा एक ही व्यक्ति का हित होता है। शेष दो मे से अरस्तू जनतत्र को ही अधिक उचित मानता है, क्योकि इसमे अल्पसख्यको के मुकाबले बहुसंख्यको के अधिकारो का समर्थन होता है। इसलिए, कुछ सुधारो के साथ वह इसी को अपनाने की सम्मति देता है।[1]

जनतत्र का समर्थन

उसका कहना है कि एक व्यक्ति केवल अपनी जेब के बल पर जो बढिया से बढिया दावत दे सकता है, वह उस दावत से घटिया होती है जिसमे बहुत से लोग थोडा-थोडा चदा दे देते है। इसी प्रकार बहुत-से साधारण लोग मिलकर कुछ अच्छे लोगो से अच्छे हो सकते है।[2] इस कथन को सिद्ध करने के लिए वह कहता है कि बहुत-से लोगो को एक साथ रखकर, बहुत से हाथ, पैर तथा इन्द्रियोंवाला एक व्यक्ति बनाया जा सकता है।[3] अरस्तू की यह युक्ति हमे हाब्ज के 'लेविएथन' (Leviathan) अथवा रूसो के 'मोई कॉमम' (Moi Comum) की याद दिलाती है। एस्पिना और डुरखीम नामक, उन्नीसवी शताब्दी के फ्रांसीसी विचारको ने, मनोवैज्ञानिक व्याख्या का रूप देकर, इसी युक्ति को 'सामाजिक चेतना' के समर्थन मे प्रयुक्त किया था। किन्तु, अरस्तू केवल बहुत-से हाथ-पैरवाले पुरुष के रूपक से एक की तुलना मे बहुतो की श्रेष्ठता का अनुमान कराना चाहता था। अरस्तू का तीसरा तर्क यह है कि जब बहुत से व्यक्तियो के सामने निर्णय के लिए कोई वस्तु आती है तो उनमे से कोई किसी एक भाग को अधिक समझता है, कोई किसी दूसरे भाग को और सब लोग मिलकर एक व्यक्ति से अच्छा निर्णय देते है।[4] कुल मिलाकर

१. पॉलीटिका, १२८६ बी, २०। २. पॉली०, १२८१—बी, १

३. पॉलीटिका, १२८१ बी, ५

४. पॉलीटिका, १२८१ बी, ७

तीन बातें कही गयी हैं—(१) सबकी थोड़ी-थोड़ी संपत्ति इकट्ठाकर देने से एक की संपत्ति से अधिक हो जाती है, (२) सबके हाथ-पैर मिलकर एक आदमी के हाथ-पैरों से अधिक काम कर सकते हैं और (३) सबकी थोड़ी-थोड़ी बुद्धि एकसाथ किसी भी बुद्धिमान् की बुद्धि से अधिक हो जाती है।

कठिनाई यह है कि सामान्य जनता को पद दिये जाने पर वे असफल होंगे, क्योंकि वे तो एक साथ रहकर ही बुद्धि के काम कर सकते हैं। इसे दूर करने के लिए अरस्तू का सुझाव यह है कि नागरिक अधिकार उन तमाम व्यक्तियों को दे दिये जायँ जो राज्य-व्यवस्था में विचार-संबंधी योग दे सकते हों अथवा न्यायकार्य कर सकते हों[1]; किन्तु, पदप्राप्ति के लिए शिक्षा और चरित्र की शर्त लगा दी जाय।[2] इस प्रकार, साधारण जनता के हाथ में केवल निर्वाचन का अधिकार रह जाता है। इसका वे भलीभाँति निर्वाह कर सकते हैं।[3]

इतनी बातें जान लेने पर हम यह समझ सकते हैं कि नियमित दासता का समर्थन न करते हुए भी अरस्तू ने बुद्धि की कमी के आधार पर कुछ लोगों को दास बनाये रखने का समर्थन क्यों किया था। अरस्तू के शास्त्र में दास और स्वतंत्र नागरिक का भेद किया गया है। यदि यह भेद न किया गया होता तो बुद्धिहीन लोगों को भी नागरिक अधिकार प्राप्त होते और वे, कम से कम, निर्वाचन में मत देने के अधिकारी तो हो ही जाते। ऐसी दशा में वे जनतंत्र को और भी दूषित कर देते। इसीलिए अरस्तू उन तमाम व्यक्तियों को, जिन्हें मत देने की भी बुद्धि न हो, पहले ही दास-श्रेणी में रखकर नागरिकों का चुनाव कर लेता है। तब जनतंत्र बनाने की सम्मति देता है।

इस शासन-पद्धति में अरस्तू को विद्रोह की कम संभावना दिखाई दी, इसलिए भी उसने अन्य दूषित पद्धतियों से इसे पसंद किया।[4] उसके विचार में, किसी शासन-पद्धति की स्थापना जितनी आवश्यक है, उतनी ही आवश्यक

१. पॉलीटिका, १२७५ बी, १८
२. पॉलीटिका, १२८३ ए, २२
३. पॉलीटिका, १२८१ बी, ३०-३५
४. पॉलीटिका, १३०२ ए, ८

उसकी सुरक्षा भी है। इसके बिगड़ने से राज्य में व्यवस्था की कमी आ जाती है, जिससे नागरिकों के सुख और शान्ति में बाधा होती है। अरस्तू ने व्यवस्था भंग न होने देने के लिए दो उपाय बतलाये हैं। पहला उपाय है विद्रोह की स्थिति उत्पन्न न होने देना और दूसरा नागरिकों को शासन के आदर्शों के अनुरूप शिक्षा देना। पहला निषेध है, दूसरा विधि रूप है। अच्छा होगा कि पहले निषेधों पर ही दृष्टि डाल लें।

विद्रोह के कारण

अरस्तू ने विद्रोह के सात कारण बतलाये हैं। नागरिक (१) समानता के लिए विद्रोह करते हैं, (२) विशिष्ट सम्मान के लिए विद्रोह करते हैं, (३) दंड के भय से, अथवा (४) पारस्परिक ईर्ष्या में विद्रोह करते हैं। (५) किसी एक वर्ग के अधिक शक्तिशाली हो जाने से, (६) विभिन्न जातियों के संघर्ष से, अथवा (७) शासन की ओर से असावधानी होने पर भी विद्रोह की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।[1] अरस्तू के इन सातों कारणों को चार में घटाया जा सकता है—(१) न्याय की कमी, (२) शासन की असावधानी, (३) विषमता की वृद्धि तथा (४) जातीय संघर्ष।

(१) न्याय की कमी—अरस्तू ने नीतिशास्त्र में न्याय के भेद करते हुए बतलाया था कि न्याय का एक रूप अधिकारों आदि के विभाजन में मिलता है और इस न्याय का उचित रूप यह बतलाया था कि शासन की ओर से नागरिकों को सम्मान, अधिकार आदि योग्यता के अनुपात में मिलना चाहिए। ऐसा न होने पर, दो स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। कुछ लोग यह अनुभव करेंगे कि उन्हीं के समान व्यक्तियों को अधिक लाभ हो रहा है और वे समानता के लिए झगड़ेंगे।[2] दूसरे लोग यह अनुभव करेंगे कि उन्हें अपने से हीन नागरिकों के बराबर भी लाभ नहीं हो रहा है और वे दूसरों से अधिक लाभ के लिए

१. अरस्तू की 'पॉलीटिका' की पाँचवीं पुस्तक में दूसरे, तीसरे तथा चौथे अध्याय में विद्रोह के कारणों पर विचार किया गया है

२. पॉलीटिका, १३०२ ए, २४

शासन के विरुद्ध अपवाद फैलायेंगे।[1] यदि शासन शुभों के, अथवा लाभों के विभाजन में न्याय बरतता रहे तो ये दो स्थितियाँ उत्पन्न नहीं हो सकती।

(२) असावधानी (Neglect)—इस शीर्षक के अन्तर्गत अरस्तू संविधान की त्रुटियों की ओर सतर्क रहने की बात कहता है। कभी-कभी संविधान में छोटी-मोटी कमी रह जाने से बड़े-बड़े परिवर्तन उत्पन्न होने की नौबत आ जाती है।[2] हम चाहें तो असावधानी के ही अंतर्गत न्याय की कमी को भी रखकर यह कहें कि राज्य में विद्रोह होने का आंशिक उत्तरदायित्व शासन-सत्ता पर रहता है।

(३) विषमता की वृद्धि—यह तीन प्रकार की हो सकती है—(क) राज्य का एक व्यक्ति अधिक शक्तिशाली होकर, नियमों आदि की चिंता न कर, मनमानी करने लग सकता है। ऐसी दशा में वह चाहेगा कि शासन-सत्ता में परिवर्तन हो और ऐसे लोगों के हाथ में शासन आ जाय, जो उसकी निरंकुशता का समर्थनकर सकें। यह स्थिति दंड के भय से विद्रोह कराने की होगी। (ख) दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि शासन-कार्य संभालनेवाले व्यक्तियों में से ही दो प्रभावशाली व्यक्तियों में कोई आपसी वैमनस्य हो जाय और वे अपने-अपने दल बनाकर सत्ता को भंग करने लगें। (ग) तीसरी स्थिति किसी वर्ग के समृद्ध होकर वर्गीय शासन की स्थापना के लिए प्रयत्न करने की हो सकती है। जैसे, धनी लोग शक्तिशाली होकर धनिकों को शासन-समितियों में पहुँचाकर अपने लाभ की चेष्टा करने लगें।[3] अरस्तू के समय में, अधिक शक्तिशाली लोगों को देश निकाला देकर समानता उत्पन्न करने की पद्धति प्रचलित थी। इसे 'आस्ट्रासिज्म' (Ostracism) कहते हैं।[4] अरस्तू ने इस पद्धति का विरोध किया और संविधान-निर्माता को सजग किया कि वह इस प्रकार की विषमता उत्पन्न न होने दे।[5]

१. पॉलीटिका, १३०२ ए, २६
२. पॉलीटिका, १३०३ ए, २०
३. पॉलीटिका, १३०२ बी, २३; १३०३ बी, १८ तथा १३०३ ए, ११
४. पॉलीटिका, १२८४ ए, ३६। ५. पॉलीटिका, १२८४ बी, १६

(४) जातीय संघर्ष (Racial Conflict)—अरस्तू का कथन है कि राज्य विभिन्न परिवारों के इकट्ठे होने से नहीं बन जाता है, बल्कि परिवारों में एकता की भावना होने से। यह भावना एक दिन में नहीं, अधिक काल तक साथ-साथ रहने से तथा पारस्परिक आदान-प्रदान के संबंध स्थापित होने से विकसित होती है। किन्तु राज्यों में समय-समय पर बाहर से भिन्न जातियों के लोग आकर बसते रहते हैं। इनमें परभावना[1] रहने के कारण, मूलनिवासियों से संघर्ष हो सकते हैं और इससे राज्य में विद्रोह हो सकता है। शासन-सत्ता इतनी बातों पर विजय पा ले, तो वह अपना स्वत्त्व बनाये रख सकती है।

शिक्षा का नियंत्रण[2]

शासन-सत्ता को स्थिर रखने का रचनात्मक उपाय शिक्षा का नियन्त्रण (Control) है। अरस्तू ने जिस प्रकार की शिक्षा से शासन-सत्ता को स्थिर रखने का सुझाव दिया है, उसके तीन मुख्य उद्देश्य मालूम होते हैं। नागरिकों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए कि सभी नागरिक संविधान की आवश्यकता को समझ सकें। वे संविधान से सहमत हो सकें और उनमें पारस्परिक संघर्ष न हों। इनमें से प्रथम उद्देश्य की पूर्त्ति के निमित्त उसने प्रत्येक बालक को शिक्षा देने की सलाह दी।[3] उसका कथन है कि प्रत्येक भाग की ओर ध्यान देकर ही पूरे राज्य की ओर ध्यान दिया जा सकता है। सभी नागरिक संविधान को तभी समझ सकेंगे जब सभी शिक्षित होंगे। दूसरे उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उसका सुझाव है कि शिक्षा का स्वरूप ऐसा होना चाहिए कि नागरिक शासन-पद्धति का अनुमोदन कर सकें।[4]

तीसरे उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उसने तीन उपाय बतलाये थे। सबको एक-सी शिक्षा मिलनी चाहिए, सबको एक साथ शिक्षा मिलनी चाहिए[5] और

१. पॉलीटिका, १३०३ ए, २५
२. पॉलीटिका की आठवीं पुस्तक में शिक्षा की समस्या पर विचार किया गया है
३. पॉलीटिका, १३३७ ए, ३०। ४. पॉलीटिका, १३३७ ए, १३
५. पॉलीटिका, १३३७ ए, २१

वह शिक्षा उनमे नैतिक भावना उत्पन्न करनेवाली होनी चाहिए। अरस्तू ने अपने शिक्षा-सबधी उपदेश मे शिक्षा के माध्यम से नैतिक आचरण के विकास पर सब से अधिक बल दिया है। उसके पाठ्यक्रम मे चार विषयो को स्थान मिला है--(१) लिखना और पढना, (२) व्यायाम, (३) सगीत तथा (४) ड्राइग। इनमे से सगीत के नैतिक प्रभावों का उसने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। शेष विषय उसने उपयोगी शिक्षा के अतर्गत माने है।

संगीत के अतर्गत अरस्तू ने तीन प्रकार के गीत बतलाये है। कुछ नैतिक भावनाएँ उत्पन्न करते है, कुछ कर्म मे प्रवृत्त करते है और कुछ वासनाओ को जाग्रत करते है।[1] इनमे से वह वासना उत्पन्न करनेवाले सगीत का शिक्षा के लिए निषेध करता है। अधिकतर उस संगीत का अनुमोदन करता है जो नैतिक मनोवृत्ति उत्पन्न कर सके। उत्तम सगीत से अरस्तू तीन लाभ बतलाता है। प्रथम लाभ शिक्षा अथवा सस्कार है। दूसरा लाभ दूषित भावो का रेचन और तीसरा बौद्धिक आनंद है।[2]

एक स्थान पर उसने यह भी कहा है कि अवकाश को बौद्धिक आनद मे बिताने के लिए भी कुछ चीजे सीखनी चाहिए, क्योकि लाभप्रद शिक्षा दूसरे उद्देश्यों की पूर्त्ति कराती है, ऐसे उद्देश्यो की नही, जो अपने में ही पूर्ण हो।[3] सगीत मे वह परम शुभ की प्राप्ति मानता था। नीतिशास्त्र मे वह बता चुका है कि परम शुभ का अन्य कोई उद्देश्य नही होता। इसीलिए उसने चिंतन को परम शुभ माना था, किन्तु चिंतन मे सबकी रुचि नही हो सकती। सगीत से प्राप्त होनेवाले आनद का अन्य कोई प्रयोजन नही मिलता और इसमे सबकी रुचि हो सकती है। इस प्रकार अरस्तू सगीत से सुलभ परम शुभ की प्राप्ति संभव मानकर पूरे राज्य को इसकी शिक्षा दिलाना चाहता था। सक्षेपत वह यह कहना चाहता था कि शासन की ओर से कुछ ऐसे विषयो के पढाने का प्रबध होना चाहिए जो नागरिको के खाली समय को अकेले बिताने मे सहायता कर सके। नही तो वे शासन के विरुद्ध षड्यंत्र (Plot) करेंगे।

१. पॉलीटिका, १३४१ बी, ३२। २. पॉलीटिका, १३४१ बी, ३५
३. पॉलीटिका, १३३८ ए, ९-२१

अध्याय ११

भाषण-कला तथा काव्य-शास्त्र

(क) भाषण-कला

प्राचीन यूनान म, अरस्तू से बहुत पहले, सोफिस्टो ने भाषण-कला की शिक्षा देना प्रारंभ कर दिया था। बात यह थी कि राज्य-सभाओ में शासन की समस्याओ पर विवाद होने लगे थे। न्यायालयो मे वादी (Plantiff) ओर प्रतिवादी (Defendant) अपने-अपने पक्ष के समर्थन के लिए वक्ताओ को प्रस्तुत करने लगे थे। सार्वजनिक सभाएँ होने लगी थीं और इन सभाओ मे सफल वक्ताओ को ही राज्य के शासन मे भाग लेने के योग्य समझा जाता था। पर, सोफिस्टो ने भाषण की योग्यता पर बल न देकर श्रोताओ को प्रभावित करने की विधियो पर बल दिया था।

भाषणो का विवेचन

अरस्तू ने देखा कि इस प्रकार की वक्तृताओ से न तो किसी प्रकार के ज्ञान मे वृद्धि हो रही है और न अनुभव मे। वक्ता लोग अपने विषय से संबंध न रखनेवाली बाते कहकर श्रोताओ को अपने पक्ष मे करने का प्रयत्न करते है। इसलिए उसने तीन पुस्तकों की रचनाकर भाषण की समस्याओं का सामान्य रूप से तथा विशिष्ट उद्देश्यो के अनुसार, विश्लेषण किया। अरस्तू की इन तीनों पुस्तको को एक पुस्तक मे सगृहीत किया गया है और उसे 'रेटॉरिका' कहते है। रेटॉरिका की पहली तथा दूसरी पुस्तकों मे विशिष्ट भाषणो का विवेचन है। राजनीतिक वक्ता के लिए बतलाया गया है कि उसे अपने देश के प्राचीन इतिहास का ज्ञान होना चाहिए। उसने विभिन्न देशो की राजनीतिक परिस्थितियो को समझाने के लिए यात्रा-सबधी पुस्तके पढ़ी हो तथा उसे शुभ

और उपयोगी वस्तुओं का ज्ञान होना चाहिए।[1] न्यायालय में भाषण करनेवालों को राज्य के संविधान का ज्ञान होना चाहिए, जिस पक्ष का उन्हें समर्थन करना है उससे संबद्ध घटनाओं का ज्ञान होना चाहिए तथा उचित-अनुचित का भेद मालूम होना चाहिए।[2] सामान्य वक्ताओं को भी उस व्यक्ति के संबंध में अच्छी जानकारी होनी चाहिए जिसकी वे प्रशंसा अथवा निंदा करते हैं तथा उसके गुण-अवगुण का भी ज्ञान उन्हें होना चाहिए।[3]

विस्तारपूर्वक सभी बातों को न कहकर, इतना कह देना पर्याप्त होगा कि उसने वक्ता की योग्यता को अच्छे भाषण का आवश्यक आधार माना था। वक्ता को अपने विषय का सामान्य तथा विशिष्ट ज्ञान होना चाहिए। उसे नैतिक होना चाहिए। साथ ही उसे मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान होना चाहिए। वक्ता में इतनी बातें होने पर, श्रोताओं को वह अपने चरित्र और ज्ञान से प्रभावित कर सकेगा। अब प्रश्न उठता है भाषण की योग्यता का, क्योंकि भाषण ही वक्ता के विचारों को श्रोताओं तक पहुँचाता है। इस प्रसंग में अरस्तू ने भाषण की प्रकृति और स्वरूप पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

सूक्तियों और तर्कों का प्रयोग

प्रभावपूर्ण होने के लिए भाषण युक्ति-युक्त होना चाहिए। इस गुण को लाने के लिए अरस्तू ने उदाहरणों[4] सूक्तियों[5] तथा संक्षिप्त तर्कों[6] के प्रयोग की

१. रेटॉरिका, १, ४, १३६० ए, १७-३७
२. पहली पुस्तक का दसवाँ अध्याय देखिए
३. पहली पुस्तक का नवाँ अध्याय देखिए
४. उदाहरणों के प्रयोग पर, रेटॉरिका की दूसरी पुस्तक का बीसवाँ अध्याय देखिए।
५. सूक्तियों (Maxims) पर दूसरी पुस्तक का इक्कीसवाँ अध्याय देखिए
६. संक्षिप्त तर्कों, (Enthymemes) पर दूसरी पुस्तक के बाईसवें अध्याय से छब्बीसवें अध्याय तक देखिए

सम्मति दी। उदाहरणों के प्रयोग से मालूम होता है कि वक्ता ने समान परि-स्थितियों का भली-भाँति अध्ययन किया है। वह अपने कथन की उपयोगिता प्रमाणित करने के लिए, सत्य घटनाओं के उदाहरण दे सकता है, अथवा उपयुक्त गल्पों से काम ले सकता है। सूक्तियों का प्रयोग केवल वृद्ध वक्ताओं को करना चाहिए, क्योंकि सूक्तियों में किसी न किसी सार्वदेशिक सत्य का कथन होता है और किसी अल्पायु व्यक्ति के मुख से ऐसे व्यापक सत्य का कथन हास्यास्पद हो जाता है।

तर्कों के प्रयोग से अरस्तू का तात्पर्य किसी शास्त्रीय तर्क का प्रयोग नहीं है। यदि किसी वक्ता ने शुष्क तार्किक पद्धति का प्रयोग करना प्रारंभ कर दिया तब तो श्रोता उदासीन होकर बैठे रहेंगे। वक्ता को, अरस्तू के अनुसार, चार प्रकार के तथ्यों को कार्य-कारण संबंध प्रदर्शित करते हुए प्रस्तुत करना चाहिए। ये हैं संभावनाएँ, उदाहरण, सत्य लक्षण और साधारण लक्षण।[1] अरस्तू के रेटॉरिका नामक ग्रंथ की पहली तथा दूसरी पुस्तकों में इन्हीं विषयों का विस्तृत विवेचन हुआ है। भाषण-कला की दृष्टि से भाषण का स्वरूप जानना अधिक उपयोगी है।

शैली, भाषा और गठन

स्वरूप के अंतर्गत अरस्तू ने दो बातों पर विचार किया है--(१) भाषण की शैली (Style) तथा भाषा और (२) गठन। इनमें से शैली तथा भाषा के प्रसंग में अरस्तू ने सामान्य भाषण की आवश्यकताओं को ध्यान में रखा है। इसीलिए साहित्य की दृष्टि से अधिक उपयोगी बातें बता सका है। गठन पर पर विचार करते हुए अरस्तू ने परिचय और उपसंहार पर एक सामान्य दृष्टि डाली थी कि भाषण के मुख्य कलेवर की बात आ गयी यहाँ। वह न्यायालय की दीवारों में बन्द भाषणों की बातें सोचने लगा, इसलिए भाषण के गठन का सामान्य रूप प्रस्तुत न कर सका।

१. रेटॉरिका, २, २५, १४०२ बी, १२

भाषण की शैली

शैली के संबंध मे अरस्तू तीन बाते बतलाता है। अच्छी शैली स्पष्ट, उपयुक्त और स्वाभाविक होती है।[1] शैली मे स्पष्टता लाने के लिए, वह कुरुचिपूर्ण भाषा का बहिष्कार करने और भाषा-संबंधी नियमो का प्रयोग करने की सम्मति देता है। उसने कुरुचिपूर्ण भाषा के चार लक्षण बताये है—समासयुक्त पदो की अधिकता, अप्रचलित शब्दो का प्रयोग, विशेषणो और रूपको (Metaphors) की भरमार।[2] अच्छी भाषा मे अप्रचलित शब्दो का प्रयोग बिलकुल नही होना चाहिए। समासयुक्त पदो की जहाँ आवश्यकता हो वहाँ उनका प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु ऐसे पदो के प्रयोग का लोभ न होना चाहिए। आवश्यकतानुसार विशेषणो और रूपको से काम लिया जा सकता है, पर इतना नही कि भाषा गद्य के बजाय पद्य बन जाये।

भाषा-संबंधी नियमो का पालन न करने तथा अशुद्ध भाषा का प्रयोग करने से भी शैली मे अस्पष्टता आ जाती है। इस प्रसंग मे अरस्तू ने छ संकेत दिये है[3]—(१) संयोजको (Conjunctions) का उचित प्रयोग होना चाहिए। (२) संज्ञाओ का प्रयोग करते समय ध्यान रखना चाहिए कि उनसे अपेक्षित वस्तुओ का ही ज्ञान हो। (३) द्व्यर्थक शब्दो का प्रयोग नहीं होना चाहिए। (४) लिंग-बोध स्पष्ट होना चाहिए। (५) उचित वचन का प्रयोग होना चाहिए और (६) शब्दो का क्रम ठीक होना चाहिए।

शैली मे उपयुक्तता लाने के लिए, अरस्तू भाषा मे तीन प्रकार की संगति (Harmony) रखने का आदेश देता है। भाषा भाव-संगत, चरित्र-संगत और विषय-संगत होनी चाहिए। भाव-संगत भाषा से अरस्तू का तात्पर्य यह है कि वक्ता को क्रोध की बात कहते हुए क्रोध की भाषा, निराशा व्यक्त करते हुए

१. रेटॉरिका, १४०४ बी, १-२०, देखिए
२. रेटॉरिका, ३—३, ४
३. रेटॉरिका के पाँचवें अध्याय में, १४०७ ए, १८ से १४०७ बी, २५ तक देखिए

निराशापूर्ण भाषा का प्रयोग करना चाहिए। अधार्मिक बातों की चर्चा करते समय श्रोताओं को लगना चाहिए कि वक्ता बड़े क्षोभ का अनुभव कर रहा है। भाव-संगत भाषा से वक्ता के चरित्र का अनुमान किया जाता है। भाषा को चरित्र-संगत बनाने के लिए, वक्ता को जानना चाहिए कि भाषा स्वभाव के अनुरूप होती है। शिक्षित व्यक्ति की भाषा में और अशिक्षित की भाषा में अन्तर होता है। वक्ता को इस जानकारी से काम लेना चाहिए। उसकी भाषा से उसका स्वभाव और चरित्र व्यक्त होना चाहिए। भाषा में विषय से संगति लाने के लिए वक्ता को ध्यान रखना चाहिए कि वह किसी गंभीर विषय की चर्चा कर रहा है अथवा किसी साधारण-सी बात की। ऐसा न करने पर, वह साधारण बातों को महत्त्वपूर्ण ढंग से कहेगा और अपने को हास्यास्पद सिद्ध करेगा। अरस्तू ने असंगत भाषा का उदाहरण बड़ा अच्छा दिया है। क्लिओफोन ने अंजीर के वृक्षों को संबोधित कर कहा था—'ऐ रानियों-जैसे अंजीर के वृक्षों'! क्लिओफोन की सी बात कहने पर विषय से भाषा की संगति न रह जायगी।[1]

भाषा में प्रभाव (Appeal) लाने के लिए भी अरस्तू ने कुछ सुझाव दिये हैं।[2] उसका कहना है कि भाषा में प्रभाव लाना हो तो नामों के स्थान पर वर्णन से काम लो। 'वृत्त' न कहकर, कहो 'वह स्थान जो केन्द्र से बराबर दूरी तक फैला रहता है'। विशेषणों और रूपकों द्वारा वस्तुओं को व्यक्त करो, किन्तु ध्यान रहे कि भाषण कहीं कविता न बन जाय। तीसरा उपाय एक-वचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग है। चौथा, एक संकेतवाचक सर्वनाम के साथ दो-दो शब्दों का प्रयोग न कर, अलग-अलग शब्दों के साथ भिन्न संकेत-वाचकों का प्रयोग है। जैसे, 'ये पर्वत, वन और नदियाँ' न कहकर, 'ये पर्वत, ये वन और ये नदियाँ' कह देने से भाषण का प्रभाव बढ़ जाता है। पाँचवाँ उपाय यह है कि बहुत से संयोजकों का प्रयोग कर, वाक्य लम्बे कर दिये जायँ और छठा उपाय है निषेधात्मक विधि से वस्तुओं को समझाने का प्रयत्न करना

१. उपयुक्त भाषा के प्रयोग पर देखिए रेटॉरिका, पु० ३, अ० ७

२. प्रभाव-संबंधी संकेत तीसरी पुस्तक के छठे अध्याय में मिलेंगे

जैसे, यह बताने के लिए कि क्या हितकर है, तमाम अहितकर वस्तुओं की सूची प्रस्तुत करना श्रोताओं को बहुत प्रभावित कर देगा।[1]

अरस्तू के भाषण में स्वाभाविकता लाने के लिए दिये हुए निर्देश उपयुक्तता और स्पष्टता के निमित्त दिये हुए निर्देशों में सम्मिलित हैं। भाव-संगति न होने पर भाषण अस्वाभाविक लगेगा। इसी प्रकार विषय-संगति न रहने पर अंजीर को ज्यों ही रानी या राजा बना दिया गया, भाषण अस्वाभाविक हो जायेगा। कभी-कभी वक्ता प्रभाव उत्पन्न करने के प्रयत्न में अनुपात नष्टकर देता है और उसकी भाषा पद्यमय हो जाती है। इस संबंध में अरस्तू से दूसरी बात यह मालूम होती है कि वक्ता को भावप्रकाशन में मध्य मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। आक्रोश व्यक्त करने में ध्यान रखना चाहिए कि आवाज के अतिरिक्त शरीर के अन्य अंगों पर आक्रोश का प्रभाव न पड़े। इसी प्रकार, अन्य भावों के प्रकाशन में भी सतर्क रहना चाहिए, नहीं तो वक्ता नाटक के पात्र में बदल जायेगा।[2]

भाषण का आरम्भ और अन्त

भाषण के गठन[3] के विषय में अरस्तू से हमें दो बातें मिलती हैं। पहली यह कि भाषण प्रारंभ कैसे करना चाहिए और दूसरी यह कि उसका अंत कैसे करना चाहिए। भाषण को वह चार भागों में विभाजित करता है—परिचय, कथन, तर्क और उपसंहार।[4] किंतु, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, परिचय (Introduction) और उपसंहार (Conclusion) के विषय में तो उसने कुछ ऐसी बातें बतलायी हैं जो किसी भी वक्ता के काम की हो सकती हैं। बीच के अंगों पर विचार करते हुए उसका ध्यान न्यायालय के भाषणों की ही ओर

१. रेटॉरिका, ३, ८, १४०८ बी, २२
२. रेटॉरिका, १४०८ बी, ५
३. तीसरी पुस्तक के तेरहवें अध्याय से अंत तक इसी विषय पर विचार किया गया है
४. रेटॉरिका, १४१४ बी, ७

रहा है। उन बातों पर दृष्टि डालना व्यर्थ है क्योंकि अब अरस्तू के अनुसार अकालत करने की आवश्यकता नही है।

अरस्तू अच्छे परिचय का उद्देश्य श्रोताओ को वक्ता की बात सुनने के लिए तत्पर करना बतलाता है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए किसी ऐसे प्रसग मे प्रारभ करना चाहिए, जो श्रोताओं का ध्यान वक्ता की ओर आकर्षित कर सके और उन पर वक्ता के अच्छे चरित्र का प्रभाव डाले।[1] इसके लिए, अरस्तू ने एक सम्मति यह दी है कि वक्ता को वह बात कहने से प्रारभ करना चाहिए, जो भाषण प्रारभ करते समय उसके मस्तिष्क मे बलपूर्वक प्रस्तुत हो गयी हो।[2] इसी से प्रारभकर उसे धीरे-धीरे अपने विषय की ओर बढ जाना चाहिए। किन्तु उसका प्रारंभ ऐसा होना चाहिए कि विषय से सबध जोड़ने मे कठिनाई न हो।[3] भाषण प्रारंभ करने का दूसरा ढग अपने विषय का ही परिचय देना है।[4] इसमे श्रोताओं को मालूम हो जाता है कि वक्ता क्या कहने जा रहा है और वे उसकी बाते सुनने लगते है।

उसने अन्य दो विधियों[5] की ओर भी सकेत किये है, किन्तु उनको बहुत महत्त्व नही दिया है। उसने बताया है कि कुछ वक्ता श्रोताओ की प्रशंसा मे आरभ करते हैं। जैसे, एक बार गार्गियस नामक सॉफिस्ट ने भाषण के प्रारभ मे कहा था—'यूनान के निवासियो, तुम्हारा सम्मान चारो ओर फैल गया है। इसी प्रकार कुछ लोग उपयुक्त सम्मति से प्रारभ करते हैं। जैसे, यह कहा जा सकता है कि 'हमे योग्य व्यक्तियो का सम्मान करना चाहिए' और तब धीरे-धीरे उस व्यक्ति का नाम लेना चाहिए जिसके सम्मान मे भाषण करना हो। किंतु वक्ता को भाषण के विषय के अनकूल प्रारभ का चुनाव करना पडेगा। इसके बाद, वक्ता अपने मुख्य विषय का विस्तार करेगा और तब प्रश्न उठेगा कि वह भाषण समाप्त कैसे करे।

१. रेटॉरिका, १४१५ ए, ३९
२. रेटॉरिका, १४१४ बी, २५
३. रेटॉरिका, १४१५ ए, ७। ४. रेटॉरिका, १४१५ ए, १३
५. रेटॉरिका, १४१४ बी, ३१ तथा रेटॉरिका, १४१४ बी, ३५

अत अथवा उपसहार के विषय मे अरस्तू ने चार[1] सकेत दिये हैं, जिनमे से दो तो किसी विवाद के ही अत मे उपयुक्त हो सकते है। शेष दो सामान्य वक्ता के काम आ सकते हैं। पहला संकेत यह है कि वक्ता को चाहिए कि वह श्रोताओ को अपनी ओर खीचने का तथा उन्हे प्रतिवादी के विरुद्ध करने का प्रयत्न करे। इसके बाद उसे चाहिए कि जिन बातो को उसने सिद्ध किया है उनके प्रभावो को बढाने का और जिनका खंडन किया है, उनके प्रभावो को घटाने का प्रयत्न करे। इन विधियो को विवाद में भाग लेनेवाला वक्ता ही प्रयुक्त कर सकता है।

समाप्त करने के शेष दो ढग सामान्य है। वक्ता को चाहिए कि वह श्रोताओ की भावनाओ को छू ले और फिर अपनी वक्तृता का साराश देते हुए समाप्त कर दे। वक्ता के अतिम वाक्यो का असबद्ध होना, अरस्तू की दृष्टि में भाषण समाप्त करने का बहुत अच्छा ढग है।[2] उसका उदाहरण कुछ इस प्रकार का है—'मैंने अपनी बात कह दी। आपने मुझे सुना है। स्वय निर्णय कर सकते हैं।' आज भाषण करना इतना सामान्य हो चुका है कि अरस्तू के उपर्युक्त सकेत बहुत आवश्यक न लगेगे, पर ध्यान देने की बात तो यह है कि उसने ये बाते ईसा से चार सौ वर्ष पूर्व बतायी थी।

(ख) काव्य-शास्त्र

अरस्तू की काव्यशास्त्र विषयक पुस्तक 'प्वेटिका' है। यह छोटे-छोटे छब्बीस अध्यायों में बँटी हुई है और कुल मिलाकर इसमे इकतालीस पृष्ठ है।[3] अरस्तू की काव्यशास्त्र पर लिखी हुई शेष पुस्तके सम्भवत नष्ट हो गयी है क्योकि उससे किसी विषय पर इतनी छोटी पुस्तक लिखने की आशा नही की जा सकती।

१. रेटॉरिका, १४१९ बी, १०—अंतिम अध्याय
२. रेटॉरिका, १४२० बी, ३
३. डब्ल्यू डी० रॉस के संग्रह में, अरस्तू की 'प्वेटिका' ११वे भाग की अंतिम पुस्तक है

प्वेटिका मे साहित्य के दो रूपो तथा चार अंगों का उल्लेख है। ये दो रूप काव्य तथा नाटक हैं। अरस्तू के समय मे काव्य के दो प्रमुख भेद, महाकाव्य तथा व्यग काव्य थे तथा नाटक के दु खान्त और सुखान्त नाटक अथवा 'ट्रेजेडी' और 'कॉमेडी' थे। अरस्तू ने काव्य और नाटक को कला के भेदो मे स्थान दिया था, किन्तु महाकाव्यों और दु खान्त नाटकों को उत्कृष्ट तथा व्यगकाव्य और सुखान्त नाटको को निकृष्ट ठहराया था।[1] इसीलिए, उसने अपने काव्य शास्त्र मे, महाकाव्य और दु खान्त नाटक पर ही विस्तारपूर्वक विचार किया है।

अरस्तू की प्वेटिका के अध्ययन से मालूम होता है कि काव्य और नाटक के रूपो में श्रेय और हेय का भेद करने का कारण अरस्तू को उन रूपो के कलात्मक विवेचन से नही प्राप्त हुआ था। अरस्तू एक ओर तो नैतिक विचारक था, दूसरी ओर उसका चितन ऐतिहासिक था। यूनानी काव्य के प्राचीनतम रूप होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' मे पाये जाते है। ये दोनो काव्य-रचनाएँ महाकाव्य है। महाकाव्य को उत्कृष्ट रचना मानने का दूसरा कारण इन महाकाव्यों का विषय है। होमर के महाकाव्यों का विषय देवी-देवताओं तथा योद्धाओ के, जो अर्धदेव थे, चरित्रों का चित्रण है। इसलिए उसने महाकाव्यो को काव्य का उत्कृष्ट रूप माना।

यूनानी व्यग काव्यो का प्रचलन कुत्सित चरित्रो का उपहास करने की प्रवृत्ति से हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से ये महाकाव्यो के समान प्राचीन न थे। अरस्तू ने महाकाव्य और व्यगकाव्य मे श्रेय (Noble) और हेय (Ignoble) का भेद उनके रचयिता कवियो के स्वभाव के अनुसार भी किया था। महाकाव्यो के रचयिता गभीर प्रकृति के मनुष्य तथा व्यगकाव्यो के रचयिता निम्न स्वभाव के मनुष्य थे। पर, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ये अतर कला की प्रकृति से नही, बल्कि कवियो के स्वभाव और उनकी कृतियों के विषय तथा उद्दश्य से सबंध रखते हैं।

काव्य के रूपो मे हेय और श्रेय का अतर मानने से अरस्तू को यह अतर नाटक के दोनो रूपो मे भी मानना पडा क्योंकि यूनानी महाकाव्य ने दु खान्त

१. प्वेटिका, ४, १४४८ बी, २४-३६

नाटकों (Tragedy) को तथा व्यंगकाव्य ने सुखान्त नाटकों (Comedy) को जन्म दिया था। महाकाव्य के उदात्त चरित्रों को दृश्य-विधान प्राप्त होने पर दुखान्त नाटक और व्यंगकाव्य के उपहासात्मक चरित्रों को वही विधान प्राप्त होने पर सुखान्त नाटक प्रचलित हुए थे।[1]

कला की दृष्टि से साहित्य के चारों अंगों को अरस्तू ने एक ही जाति के अंतर्गत माना था, क्योंकि वह अनुकरण को ही कला का मुख्य गुण मानता था। काव्य के पीछे उसे अनुकरण की प्रवृत्ति दिखाई दी। उसका कथन है[2] कि अनुकरण की प्रवृत्ति मानव-स्वभाव में निहित है। इसीलिए वह अनुकार्यों में रस लेता है। इन्हीं मानव स्वभाव-संबंधी विशेषताओं के कारण वह कला-कृतियाँ उत्पन्न करता है, किन्तु इन्हें उत्पन्न करने के लिए उसे तीन प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है।[3] सबसे पहले एक विषय अथवा वस्तु चाहिए जिसकी अनुकृति उत्पन्न की जाय। इस विषय को प्रस्तुत करने के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता होती है और तीसरा आवश्यक साधन विषय का माध्यम के द्वारा प्रस्तुत करने की विधि है। इन्हीं तीनों उपादानों के स्वभाव-भेद के कारण भिन्न कलाएं रूप ग्रहण करती हैं।

कला का माध्यम भाषा[4], विषय जीवन-वृत्त तथा विधि वर्णन होने पर उसे काव्य कहा जाता है। ये तीनों उपादान भी कई प्रकार के हो सकते हैं। भाषा गद्य अथवा पद्य का रूप ले सकती है। पद्य भी अनेक प्रकार के छंदों में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यहाँ पर दो बातें विशेष रूप से ज्ञातव्य हैं। एक यह कि अरस्तू गद्य-काव्य की संभावना को स्वीकार करता था। दूसरी यह कि वह काव्य-रचना के निमित्त छंद की अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करता था। इसी प्रकार जीवन वृत्त भी दो प्रकार के हो सकते हैं—नैतिक तथा अनैतिक।[5]

१. प्वेटिका, ४, १४४९ ए, १
२. प्वेटिका, ४, १४४८ बी, ५। प्वे०, ४, १४४८ बी, ८
३. प्वे०, १, १४४७ ए, १५
४. प्वेटिका, १, १४४७ ए, २९–बी, १
५. प्वे०, २, १४४८ ए, १

यही विषय-संबधी भेद महा-काव्यो को व्यगकाव्य से अलग कर देता है, यद्यपि अन्य दो उपादानों मे वे समान रहते हैं। गद्य अथवा पद्यमय भाषा का प्रयोग दोनो ही करते है। दोनो काव्य-रचनाओ की विधि भी एक ही रहती है, क्योंकि दोनो वर्णनात्मक शैली का प्रयोग करते है।

कला के विविध रूपो मे भेद करने की इसी शैली का प्रयोग करने पर काव्य और नाटक मे मुख्य भेद अनुकरण की विधि का ही ठहरता है। काव्य मे वर्णन किया जाता है, किन्तु नाटक मे जीवनवृत्त दृश्य का रूप ले लेता है।[1] काव्य और नाटक के माध्यमो में विशेष अतर नही होता—एक, गद्य अथवा पद्य का प्रयोग करता है, दूसरा, गीत का भी समावेश कर लेता है। विषय दोनो का ही जीवनवृत्त है। किन्तु जीवनवृत्त नैतिक अथवा अनैतिक होने से श्रेय और हेय का अंतर उपस्थित हो जाता है।

हेय और श्रेय की समस्या पर इस प्रकार विचार करने पर भी यही ठहरता है कि उक्त दोष यूनानी कवियो और नाटककारो मे था, न कि कला में। किन्तु अरस्तू ने व्यगकाव्य और सुखान्त नाटको के रचयिताओ के स्वभावगत दोष मे उनकी रचनाओं मे आये हुए विषयगत दोष के कारण इन दोनो प्रकार की कलाकृतियो को उपेक्षा की दृष्टि से देखा और अपने काव्यशास्त्र मे केवल महाकाव्य और दु खान्त नाटको की विशेषताओं पर ही विचार किया।

महाकाव्य और दुःखान्त नाटक

अरस्तू को महाकाव्य और दु खान्त नाटको मे विषय साम्य के अतिरिक्त अन्य समताएँ भी दिखाई दी। दोनो में एक भली-भाँति श्रृंखलित कथा वस्तु का होना आवश्यक है।[2] गीत और दृश्य को छोड कर दु खान्त नाटक के शेष सभी अवयव महाकाव्य मे होते है।[3] मुख्य अन्तर दोनों के आयाम में है। महाकाव्य के लिए काल का कोई विशेष नियम नही है, किन्तु नाटक के विषय

१. प्वे०, ३, १४४८ ए, २०
२. प्वेटिका २३, २४५९ ए, १७
३ प्वेटिका २४ १४५९ बी ९

मे दो नियम है—(१) नाटक उतना ही बड़ा होना चाहिए जितना दर्शकों को अन्त तक स्मरण रह सके और (२) सूर्य के एक वृत्त से अधिक समय न ले।

महाकाव्य के नियम

महाकाव्य की रचना के निमित्त, अरस्तू ने कुछ नियम दिये थे। सबसे पहले महाकाव्य मे किसी एक ही कार्य का वर्णन होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह नही है कि जीवन की किसी एक ही घटना को लेकर महाकाव्य की रचना की जानी चाहिए। बहुत से प्रसगो का वर्णन किया जा सकता है, किन्तु उन सबका एक ही उद्देश्य में समाहार होना आवश्यक है।[1] दूसरा नियम यह है कि महाकाव्य में छंदो की बहुलता न होनी चाहिए।[2] अरस्तू ने वीर छंद (Heroic verse) को ही महाकाव्य की रचना के लिए उपयुक्त ठहराया था। तीसरे नियम से महाकाव्य के चरित्र नैतिक होने चाहिए। चौथा नियम यह है कि घटनाक्रम का विकास स्वाभाविक हो। स्वाभाविकता के निर्वाह के लिए, अरस्तू कवि को बहुत स्वतन्त्रता देता है। उसका कहना है कि कवि इतिहास-कार नही होता। यदि सत्य असभव प्रतीत होता है तो कवि को असत्य का आश्रय लेना चाहिए, किन्तु वह सभावित हो।[3] उसका पाँचवाँ नियम यह है कि भाषा इतनी अलकृत न होनी चाहिए कि वह चरित्रो को दबा दे और अन्तिम नियम यह है कि कवि को अपनी ओर से बहुत कम बोलना चाहिए।

महाकाव्य के विषय मे ये ही अरस्तू के मुख्य विचार है। वह महाकाव्य के विषय मे अधिक इसलिए भी नही कहना चाहता था कि विकास की दृष्टि से दु:खान्त नाटक महाकाव्य से आगे आते है। विकसित वस्तु को वह विकास की सामग्री से उन्नत मानता था। इसलिए वह समझता था कि दु:खान्त नाटको को प्रधानता मिलनी चाहिए।

१. प्वेटिका २३, १४५९ ए, १८
२. प्वेटिका, २४, १४६० ए, ३०
३. प्वेटिका, २४, १४६० ए, २५

कहाँ समाप्त हो गयी। उसमें आदि, मध्य और अन्त होना चाहिए।[1] दूसरे घटनाएँ एक दूसरे से कार्य-कारण संबंध रखती हों। एकान्वित होने के लिए कथानक में एक सूत्रता होनी चाहिए। नाटक में जितनी घटनाएँ आयोजित हों सब किसी एक ही उद्देश्य की पूरक होने से संपूर्ण कथावस्तु एकान्वित होगी।[2] तीसरा आवश्यक गुण यह है कि आयोजित घटनाओं में कहीं भी असंभव की प्रतीति न होनी चाहिए।[3] दर्शक को विश्वास होना चाहिए कि वह जो देख रहा है, वह हो सकता है। अन्तिम आवश्यकता यह है कि कथावस्तु दर्शक में करुण अनुभूति उत्पन्न कर सके।[4]

दुखमय अंत का विकास

इस अन्तिम गुण को लाने के लिए यूनानी नाटककारों ने अपने दुःखान्त नाटकों के विकास को दो स्तरों में बाँट रखा था। पहले वे नाटक के प्रारंभ में कुछ दूर तक नायक के सुखमय जीवन के दृश्य दिखाते थे। नाटक के इस भाग को संवृत्ति (Complication) (काम्पलीकेशन) कहा जाता है।[5] इसके बाद किसी ऐसी घटना का नियोजन करते थे, जिसमें स्थिति-विपर्यय (Peripety) हो। उस घटना को जिससे विपर्यय उत्पन्न होता है अभिज्ञान (Discovery) कहा जाता है, क्योंकि वह घटना किसी ऐसी वस्तु का ज्ञान करा देती है जिससे नायक के प्राणों पर आ बने। स्थिति-विपर्यय से अंत तक की कथा वस्तु को विवृत्ति (डिनाउमेंट) (Denouement) कहते हैं। यूनानी नाटकों के इसी भाग में दुखद स्थितियाँ आती थीं।

यूनानी नाटकों की कथावस्तु के इस विकासक्रम को ध्यान में रखकर अरस्तू ने दुःखान्त नाटकों के सरल और जटिल, दो भेद किये हैं। सरल नाटक वे हैं जो संवृत्ति और विवृति में बँटे न हों और जिनकी कथावस्तु में स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान का समावेश न हो। इन अवयवों से युक्त नाटकों को

१. प्वेटिका ७, १४५० बी. २३-२६
२. प्वेटिका ८, १४५१ ए, ३०-३५। ३. प्वेटिका ९, १४५१ ए, ३६
४. प्वेटिका ९, १४५२ ए, १। ५. प्वेटिका १८, १४५५ बी, २५

वह जटिल कहता है और कथावस्तु में करुण प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इन्हें उपयुक्त साधन मानता है। किन्तु नाटककार को सावधान करते हुए वह दुखद स्थितियाँ उत्पन्न करने के इन दोनों साधनों के प्रयोग में स्वाभाविकता का निर्वाह करने पर बल देता है।

स्वाभाविक स्थिति-विपर्यय अभिज्ञान के माध्यम से उत्पन्न होता है।[1] बलात् अभिज्ञान कराने से प्रभाव अच्छा नहीं होता। इसके लिए, घटनाचक्र की रचना इस प्रकार की होनी चाहिए कि किसी ऐसी वस्तु अथवा घटना का रहस्य खुले, जिससे नायक संकट में फँस जाये।[2] किन्तु ऐसा घटनाचक्र रचने में दो स्थितियाँ[3] बचानी चाहिए। कोई नैतिक व्यक्ति सुख से दुःख में न पड़ने पाये, नहीं तो दर्शकों की नैतिक भावना को ठेस लगेगी। दूसरे कोई बहुत अनैतिक व्यक्ति सुख से दुःख में न फँसने पाये। ऐसा करने पर भी दर्शक को कारुणिक अनुभव न होकर आह्लाद होगा।

दुःखद स्थिति उत्पन्न करने का सबसे अच्छा उपाय[4] किसी मध्यम नायक को, किसी भूल के कारण सुखद स्थिति से दुखद स्थिति में पड़ते हुए दिखलाना है। अरस्तू का बल इस बात पर है कि नायक यदि अनैतिक कार्य करने पर दुःख में फँसता है तो दर्शकों की सहानुभूति कम हो जाती है। दर्शकों में करुणा का संचार तभी अच्छी तरह हो सकता है जब वे यह अनुभव करें कि नायक को बिना किसी अपराध के ही दुःखभोग करना पड़ रहा है।[5] इस प्रभाव को बढ़ाने के लिए, अरस्तू एक सुझाव और देता है। वह कहता है कि शत्रुओं तथा अपरिचित व्यक्तियों के द्वारा यातनाएँ मिलने पर भी अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। एक ही परिवार के व्यक्तियों में से एक के द्वारा दूसरे का वध आदि करा देने से भी दर्शकों में से प्रत्येक त्राहि-त्राहि करेगा।[6] अस्तु, दुखद घटनाओं से संबद्ध व्यक्तियों को अपने संबंधों का ज्ञान घटना के अंत में ही होना उपयुक्त है।

१. प्वेटिका १२, १४५२ ए, ३०। २. प्वेटिका १०, १४५१ बी, १७
३. प्वेटिका १३, १४५२–बी, ३०–१४५३ ए, ५
४. प्वेटिका, १३, १४५३–ए, ६। ५. प्वे० १३, १४५३ ए, ५
६. प्वेटिका, १४, १४५३ बी, १९

अरस्तू ने दु:खान्त नाटकों की सफलता को करुण प्रभाव पर निर्भर माना है। नाटक जितनी करुणा उत्पन्न कर सके उतना ही अच्छा होगा। इसी प्रसंग में उसने कहा है कि दु:खानुभूति कराकर, मन की दु:खमय भावनाओं का विरेचन[1] ही दु:खान्त नाटकों का उद्देश्य है। अरस्तू के उस विरेचन-सिद्धान्त का अँग्रेजी के आधुनिक समीक्षकों ने बहुत ही गुणगान किया है।

काव्य-समीक्षा[2]

अन्त में अरस्तू की काव्य-समीक्षा पर भी एक दृष्टि डाल देना अच्छा होगा। उसके समय में कवि और नाटककार का भेद तो था नहीं। इसलिए उसकी कवि-कर्म के प्रसंग में कही हुई बातें कवि और नाटककार दोनों से संबंध रखती हैं। वह सबसे अधिक बल इस बात पर देता है कि कवि पर असत्य कथन का आरोप करना समीचीन नहीं है। कवि इतिहासकार नहीं है। वह वस्तुओं को अनेक रूपों में प्रस्तुत कर सकता है—वे (१) जैसी थीं, (२) जैसी हैं, (३) जैसी कही जाती हैं, (४) जैसी सुनी जाती हैं, (५) जैसी होनी चाहिए थीं, अथवा (६) जैसी भविष्य में होनी चाहिए।

कवि अपने वर्णन की वस्तुओं को भाषा में प्रस्तुत करता है और आवश्यकतानुसार उसकी भाषा में अप्रचलित तथा विकसित शब्दों और रूपकों का आ जाना क्षम्य है। कवि पर अनैतिकता का आरोप लगाते समय भी सोचना चाहिए कि उसके जिस शब्द अथवा कथन के कारण उसे अनैतिक कहा जा रहा है वह किस उद्देश्य से तथा किन देश-काल आदि परिस्थितियों में प्रयुक्त हुआ है। कवि पर केवल एक लांछन लग सकता है। वह असंभव का वर्णन है, किन्तु वह भी तब लगेगा जब किसी असंभव घटना आदि के वर्णन से उसके काव्य का कोई भी उद्देश्य न पूरा होता हो। समस्त कथन का एक ही निष्कर्ष मालूम पड़ता है कि कवि की कला सोद्दिष्ट अनुकरण है। उसकी समीक्षा अनुकरण की सफलता तथा उद्देश्य के औचित्य के अनुरूप होनी चाहिए।

१. प्वेटिका ६, १४४९ बी, २५
२. प्वेटिका २५

पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय

अ

अंग Part (of an Object.) Organ (of an animal)

अंश Part of a whole.

अंगी The whole

अङ्ग-अङ्गी-सम्बन्ध Part-and-whole Relation

अकादमी Academy.

अचल Immovable.

अचेतन Unconscious.

अटल Firm

अणु Atom

अणुवाद Theory of the growth of the world out of atoms.

अति Excess

अति-विकसित Excessively developed.

अदृष्ट Imperceptible.

अध्यात्मवाद Theory of an egocentric universe.

अधिकार Rights

अधोगमन Downward motion in space.

अन्तरिक्ष Interspace.

अन्तरिक्ष-विज्ञान Science of Meteorology.

अन्तर्विरोध Internal opposition or contradiction

अन्तर्हित Implied, residing in the Kernel

अन्त्य Occurring at the extremity.

अनन्त Without an end.

अनभिज्ञ Ignorant.

अनवस्था Infinite Regress.

अनवस्था-दोष Defect of Infinite Regress

अनादि Without a beginning.

अनित्य Non-eternal.

अनिवार्य Necessary.

अनिवार्यता Necessity.

अनिश्चित Indefinite

अनुकरण Imitation (act).

अनुकृति Imitation (object).

अनुकार्य Imitable.

अनुचित Inappropriate

अनुपात Proportion.

अनुभव Experience.

अनैच्छिक Non-voluntary.

अपदार्थ Non-object

अपरिवर्त्तनीय Unchangeable
अपव्ययी Extravagant Person.
अपूर्ण Imperfect, Incomplete.
अप्रचलित What is not in vogue.
अप्रतिपाद्य What cannot be established, Indemonstrable
अबौद्धिक Irrational.
अभाव Absence; negation; privation.
अभावसूचक Indicative of absence etc.
अभावसूचक पद Privative Terms
अभावात्मक Pertaining to or embodying absence
अभिप्रेत Intended.
अभिव्यक्ति Manifestation.
अभिज्ञान Discovery (of Greek Drama.)
अम्ल Acid; acidic
अर्जन Aquisition.
अर्धदेव Demigod.
अलकृत Ornamented
अल्प The Small.
अल्प-विकसित Deficiently developed.
अल्पजन-शासन Oligarchy.
अव्यक्त Not manifest, latent.
अव्यवस्थित Unorganised.
अवचेतन Subconscious.
अवरोध Suspension (of an activity).
अवस्था State of being.
अविकसित Undeveloped.
अविच्छेद्य Inseparable.
अविनश्वर Indestructible.
अविभाज्य Indivisible.
अविराम Incessant
अविरोध-Non-Contradiction.
अविशिष्ट Unqualified.
अविशेष Embodying no particularity.
अशिक्षित Uneducated; Vulgar.
असयम Incontinence.
असयमी Incontinent.
अस्तित्व Existence
असत् Non-being.
असत्य Unreal (Phil), False (Logic).
असावधानी Neglect.
असीम Unlimited.
अहंकार Conceit.
अज्ञात Unknown

आ

आतरिक Internal; Immanent.

आतरिक कारण Immanent cause.

आतरिक प्रयोजनवाद Theory of purpose as immanent.

आतरिक प्रत्यक्ष Internal Perception.

आतर-मानसिक आलोचना-शक्ति Endo-Psychic censure.

आकस्मिक Accidental.

आकस्मिक उत्पादन Accidental Production.

आकार Shape, form of an object

आकाश Heaven; upper world

आकाश-पिंड Heavenly bodies

आकृति Ultimate Form.

आकांक्षा Desire for possession.

आगमन Induction.

आगमनात्मक Inductive.

आचरण Conduct (of a Person).

आत्मा Soul, Psyche

आत्म-गौरव Self-respect.

आत्मसात् करना To assimilate.

आत्मिक Pertaining to soul; Psychic, Spiritual.

आत्मा के विभाग Faculties of the Soul

आततायी Rash.

आतुर Impatient in enjoyment

आदर्श Model for imitation.

आदि Beginning.

आदि कारण Original Cause.

आधुनिक Modern.

आधुनिकता Modernity

आध्यात्मिक Ego-centric.

आपेक्षिक Relative.

आपेक्षिक घनत्व Relative Density

आमाशय Stomach.

आयाम Size

आरोप Imposition (Phil.); Allegation (Pol.).

आवागमन Transmigration of Soul; metempsychosis.

आवेश Excitement due to emotion

आह्लाद Inner Pleasure.

इ

इतिहास History.

ईर्ष्या Jealousy.

ईश्वर-विषयक शास्त्र Science relating to God.

इन्द्रिय Organ (of sense).
इच्छा Desire.

उ

उचित Right, according to a rule; appropriate
उचित नियम Right Principle.
उचित सम्मति Proper or appropriate opinion.
उत्तरदायित्व Responsibility.
उत्पत्ति Generation.
उत्पादन Production.
उत्पादन-सम्बन्धी Pertaining to Production.
उदाहरण Example.
उदात्त (of Character) Tending to noble deeds.
उदारता Magnanimity.
उद्देश्य End; goal.
उपयुक्त Suitable.
उपलब्धि Attainment.
उपजाति Sub-species.
उपसंहार Conclusion, of a literary production.
उपादान Material for Production.
उबलना Boiling.
उष्ण Hot.
उष्ण स्वभाववाले Hot-tempered.
ऊर्ध्वगमन Upward movement in space.
ऊष्मा Heat.

ए

एकत्व Unity.
एक-कालिकता Temporal co-extensiveness.
एकान्विति Unification.
एकान्वित Unified.
एक-तत्त्ववाद Theory of the growth of the world out of one element.
एक-प्रयोजनवाद Theory of purpose as one.
एक-कारणवाद Theory of cause as one.
एक-देववाद Mono-theism
एकात्मक Pertaining to unity.
एतावत्त्व Suchness.

ऐ

ऐच्छिक Voluntary.
ऐतिहासिक Historical.
ऐतिहासिक विधि Historical method.
ऐन्द्रियिक Pertaining to sense.
ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष Sense-perception.

ऐन्द्रियिक ज्ञान Sense-Knowledge.

औ

औचित्य Rightness, correctness, appropriacy.

क

कजूस Niggardly Person.

कथावस्तु Plot (of a Drama).

कल्पना Imagination.

कला Art

कलात्मक Pertaining to art

कलात्मक उत्पादन Production by art.

कार्य Effect.

कारण Cause

कारण-कार्य Cause-effect.

कारण-कार्य-सम्बन्ध Cause-effect Relation

कारण-वाद Theory of cause.

काल Time.

काल-परिच्छेद Temporal limitation.

कुरुचि पूर्ण Opposing taste or appetite

कुलीन Aristocrat.

कुलीन-तंत्र Aristocracy (of Government).

कुलीन-शासन Administration by aristocracy.

कृत्रिम विनम्रता (नी०, १३८) 'Mock Modesty'.

केन्द्र Centre.

केन्द्रीय Central.

कोरी पटिया Tabularasa (of John Locke)

कोष Cell

क्रम Order, succession.

क्वथन Boiling.

ग

गठन Unity of parts in a body or literary composition.

गति Movement.

गतिहीन Devoid of movement

गति-विज्ञान Science of Dynamics.

गति का स्रोत Source of movement

गत्यात्मक Dynamic.

गमन Locomotion.

गमनात्मक Pertaining to Locomotion.

गद्य Prose.

गद्य-काव्य Poetic Prose writing.

गन्ध Smell (objective).

गर्म Hot.
गर्हित (बी०, १३३) Irascible person with a long duration of anger.
गल्प Fable
गीत Song.
गीला Moist.
गुण Quality.
गुण-बोध Cognizance of a quality
गुण-भेद Qualitative Difference.
गुरु Heavy (Science); A grand person (Ethics).
गोला Sphere.
गोलाकार Spherical.
गौण Of Subordinate importance.
गौरव Pride (—Aristotelian usage).
ग्राहक Receptor; Receptive.

घ

घन Dense.
घनीकरण Solidification.
घोल Solution.
घ्राण Smell (as sensed.)

च

चक्र Object, Capable of rotatory movement.
चक्राकार Of the form of a 'Chakra'.
चक्राकार गति Rotatory movement.
चरम Highest in position.
चरित्र Character of a person as well as of a drama.
चरित्र-संगत Harmonious with character.
चल Object, of a dynamic nature.
चालक Mover; source of initial movement.
चालित Object moved.
चिंतन Thinking
चिंतनशील Person of a deliberating nature.
चिंतन-प्रधान Contemplative.

छ

छिद्र Pore (of an object.)
छंद Metre of a piece of poetry.

ज

जगत Physical world.
जटिल Complex.
जड Non-sentient.
जनतंत्र Democracy (a form

of government.)
जमना Freezing.
जल Aqua.
जलीय Aquous.
जलीय अंश Aquous part.
जलीय आवरण Aquous covering.
जाग्रति Waking State.
जाति Species.
जिह्वा Tongue.
जिज्ञास्य Desirable, for knowledge.
जीव Living Principle.
जीवन Life.
जीवनीय Vital.
जीवनीय क्रिया Vital activity.
जीवनीय तत्व Vital Principle.
जीवमय Full of the living principle
जीवित In the living state.
जीवित प्राणी Living Being.

झ

झुलसना Scorching

त

तत्त्व Element.
तत्त्व-मीमांसा Ontology.
तत्त्व-वाद Theory of the growth of the world out of elements.
तर्क Logic, reasoning.
तर्काभास Fallacy.
तरल Fluid.
तरलीकरण Rarifaction.
तादात्म्य Identity.
तादात्म्य का नियम Principle of Identity.
तिक्त Bitter (taste).
तीव्र Intense.
तुलना Comparison.
तुलनात्मक Comparative.
तुलनात्मक शरीर-रचना-शास्त्र— Science of Comparative Anatomy.
त्याज्य Worth rejecting.

द

दक्षता Merit; ability.
दर्शन Philosophy.
दशा State of being viewed as a condition.
दार्शनिक Philosopher.
दार्शनिक ज्ञान Philosophic knowledge.
दार्शनिक का विज्ञान 'Science of the Philosopher' (Aristotle's expression for Philosophy.)

दुःख Pain
दुःखान्त नाटक Tragedy.
दुर्गुण Vice.
दुष्ट Defective.
दुष्ट स्वभाववाले Persons of a defective nature.
दूषित Contaminated with defect.
दृष्ट Visible or perceptible.
दृष्टि Vision.
दृश्य Spectacle (of Drama)
देवता Divine Beings.
देववाद Belief in a theogenic cosmos.
देश Space
देशनिकाला Ostracism.
दैवी Divine.
दैवी गुण Divine quality
दैवी न्याय Divine Justice.
दोष Defect.
द्रव Liquid
द्रवीकरण Liquifaction.
द्रव्य Substance.
द्वन्द्व Duality द्वन्द्वात्मक (त) Dialectical.
द्विविध (सा०) Dichotomous.
द्विविध विभाजन Division by Dichotomy (Plato).

द्विविध विश्लेषण Double Decomposition.
द्वेष Malice

ध

धनिक-शासन (रा०) Oligarchy (in Aristotle's sense).
धर्म Religion; Property
धारण करना Retention.
धारणा Belief; Notion.
धार्मिक आक्रोश Religious Indignation.
धुरी Axis.

न

नमकीन (म०) Saline (taste.)
नायक (साहि०) Hero.
निगमन Deduction.
निगमनात्मक Deductive.
निगमन-शास्त्र Deductive form of logic.
नित्य Eternal.
निद्रा Sleep.
नियमन Act of regulating.
नियमित मित्रता Legalistic Friendship.
नियामक Regulator, Ruler.
नियंत्रण Control.
नियन्त्रण-शक्ति Power of controlling.

निमित्त कारण Efficient cause.
नियंत्रित कल्पना Controlled imagination.
निरकुश (रा०) Despotic.
निरकुश-शासन (रा०) Despotic Rule.
निरपेक्ष Absolute, not relative.
निरन्तरता Incessancy.
निरवयव Embodying no constituents
निरीक्षण Observation.
निरूपण Demonstration.
निरोध Deliberate control.
निर्जीव Devoid of living principle.
निर्णय Judgment.
निश्चित Definite.
निषिद्ध Object prohibited.
निषेध Negation; Prohibition.
निषेधात्मक Negative; Prohibitory.
निष्क्रिय Inert (called 'Passive' by Aristotle).
निष्पक्ष-न्याय Impartial Justice.
निहित Implied.
नीति Moral teaching.
नैतिक Ethical.
नैतिक-गुण Ethical or moral virtue.
नैतिक नियम Moral Principle.
न्याय Justice.
न्याय-शीलता Virtue tending to justice.

प

पदार्थवादी Those maintaining the growth of the world out of Physical elements.
पदार्थ Object; Gross Matter.
पर-भावना Other-feeling.
परमशुभ Highest Good of Life; Summum bonum.
परमार्थ Noumena.
परिचय Introduction.
परिणाम Becoming.
परिणति Transformation.
परिमाण Quantity
परिमिति Dimension.
परिधि Periphery.
परिधीय Peripheral.
परिवर्तन वृत्त Cycle of change.
परिभाषा Definition.
पर्यवसान Absorption in an end.
पर्यायवाची Synonymous (Terms)
पर्यालोचन Review.

पश्चात्ताप Repentence
पश्चात् बिम्ब After-image.
पाक Concoction.
पारदर्शी Transparent
पिघलना Melting
पिंड Body
पीढी Any stage of generation.
पुनरावर्त्तन Recollection.
पुनरुत्पादन Reproduction
पुनर्जन्म Rebirth.
पूर्ण Perfect; Complete.
पूर्ववर्त्ती Antecedent.
पूर्ववाद Thesis
पोषक Nutrient.
पोषण Nutrition.
प्रकृति Subtle Matter. Ultimate Matter
प्रतिक्रिया Interaction.
प्रतिपादन Act of establishing by proof.
प्रतिपाद्य Object of Proof.
प्रतिरूप Copy
प्रतिवादी Defendant.
प्रतिवाद Antithesis.
प्रतीति Mental acceptance.
प्रत्यय Idea; Concept.
प्रत्यय-सिद्धान्त Theory of Ideas (Plato.)
प्रत्यक्ष Perception.
प्रत्ययात्मक Ideal; Conceptual.
प्रथम-विज्ञान First Science (Aristotle's rival expression for philosophy)
प्रथम-चालक First Mover.
प्रधानता Predominence.
प्रणाली Channel (of approach.)
प्रक्रिया Process.
प्रभाव Appeal.
प्रलापी Boastful.
प्रस्फुटन Emergence.
प्रवृत्ति Tendency; Instinct.
प्राकृतिक उत्पादन Natural Production.
प्राथमिक Primary
प्राथमिकता Primacy.
प्रेरक Stimulus (Psy.) Mover (Sc.)

फ

फल Consequence.

ब

बहु-प्रयोजनवाद Theory of Purpose as many.
बहु-विध-विभाजन-शैली Method of Multiple Division.
बाध Obstruction.

बहुतत्त्ववाद Theory of the growth of the world out of many elements.
बाह्य External
बाह्य-प्रयोजनवाद Theory of Purpose as External.
बिम्ब Image.
बुद्धि Reason (Nous.)
बुद्धिमत्ता Wisdom.
बुद्धिवाद Theory of Intelligent Source of the universe.
बोध Cognition.
बौद्धिक Rational.
बौद्धिक आनन्द Rational Pleasure.
बौद्धिक नियम Rational Principle.

भ

भार (वि०) Weight
भारी (वि०) Possessing weight.
भाव Presence, Positive existence.
भावना Feeling.
भाव-दशा Feeling State.
भाव-संगत Harmonious with the meaning (of a Greek Drama)
भावावेश Excitement due to Feeling, State of Passion.
भाषण Speech
भीरु Coward.
भूत Physical element.
भूल Error.
भौतिक Physical; Material.
भौतिक दर्शन Materialism.
भौतिकवाद Materialistic Theory
भ्रूण Embryo.

म

मतिभ्रम Hallucination.
मधुर Sweet (Taste.)
मध्य Mean; Middle.
मध्य-कर्म Mean Action.
मध्य-मार्ग Mean Path.
मध्य-पद Middle Term.
महाकाव्य Epic.
महत् The Great.
मनोभौतिक Psychophysical.
मनोविश्लेषण Psycho-analysis.
मनोविज्ञान Psychology.
माध्यम Medium.
मानसिक क्रिया Mental Process.
मिताचरण Temperance.
मिताचार Temperate character.

मिताचारी Temperate Person.
मितव्ययिता Benevolence (According to Aristotle.)
मिश्रण Mixture.
मिश्रित Mixed.
मुख्य Principal.
मूल तत्त्व Fundamental constituent.
मैगनीज Manganese.
मैगनीज क्लोराइड Manganese chloride.
मैगनीज सल्फेट Manganese Sulphate.
मोक्ष Liberation.
मौलिक Original, Fundamental.
मौलिक कारण Fundamental cause.

य

यातना Torture.
युक्त Reasonable.
योजना Scheme.
यौगिक Compound (objects).

र

रचना Creation.
रचनात्मक Creative.
रज Generative fluid in the female.
रंध्र Pore (of organism.)
रसयुक्त Succulent.
रसाकर्षण Osmosis.
राज, राज्य State.
राजनीति Statesmanship.
राजनीतिक Political.
राजनीतिक समाज Political Society.
राजतन्त्र Monarchy.
रासायनिक Chemical.
रासायनिक क्रिया Chemical Action.
रासायनिक परिवर्त्तन Chemical change.
रासायनिक द्रव्य Chemical Substance.
रुचि Appetite.
रुचिकारक Appetitive.
रूपक Metaphor.
रूपान्तर Change of form.
रेखा Line.
रेखाकार Rectilinear.
रेखाकार गति Rectilinear movement.
रेचन Purgation.

ल

लघु Light (in weight.)
लज्जा Bashfulness

लय Dissolution
लिंगबोध Knowledge of Gender.

व

वक्ता Speaker.
वचन (व्या) Number.
वर्गीकरण Classification.
वर्गीकृत Classified.
वर्ण Colour.
वर्णनात्मक Descriptive
वस्तु Object.
वस्तुबोध Cognition of object
वस्तु-सादृश्य Similarity of objects, Resemblance.
वस्तु-सापेक्ष Dependent upon an object.
वाक्पटुता Wittiness.
वादी Plantiff.
वासना Passion
विकार Modification; Alteration (—Aristotle.)
विकास Evolution.
विकासवाद Theory of Evolution.
वैकृति Result of Modification.
विकृत Modified.
विचार Thought.
वितरण Distribution
वितरण-सम्बन्धी न्याय Distributive Justice.
विद्रोह Revolution; Revolt.
विधि Method.
विधान Legislation.
विधेय Predicate.
विधेयधर्मी (पद) Predicable (Terms)
विनम्र Modest.
विनम्रता Modesty.
विनाश Destruction.
विभाग Division; Faculty
विभागीय मनोविज्ञान Faculty Psychology.
विभाज्य Divisible.
वियोग Separation.
विरल Rare.
विराम Rest of a moving object.
विलासी Indulgent, voluptuous person.
विवृति Denouement (in Greek Drama.)
विरेचन Catharsis.
विशिष्ट Qualified, Particular,
विशेष Particularity.
विशेषण Epithet
विशेषता Characteristic

special.

विशिष्ट न्याय Particular Justice.

विशिष्ट सवेद्य गुण Particular sensible qualities.

विश्लेषण Analysis.

विश्व Universe; Cosmos.

विश्व-रचना Cosmogenesis.

विश्व-रचना-सम्बन्धी Cosmogenetic.

विश्व-संगीत Music of the Spheres.

विषमता Heterogeneity.

विषमांग Heterogeneous

विषय-सगत Harmonious with the theme.

विस्तार Extension.

विज्ञान Science; accurate knowledge.

वीरछंद Heroic verse.

वृत्त Circle.

वेग Velocity.

व्यक्त Manifest.

व्यवधान Intervening object

व्यवस्था Organisation.

व्यवस्थित Organised.

व्यवहार Behaviour.

व्यवहार-कुशलता Tactfulness.

व्यापक Pervasive.

व्यापार Behaviour in a collective sense.

व्यापार गत Behavoural.

व्याख्या Interpretation.

व्यावहारिक बुद्धि Practical Reason.

व्यावसायिक Industrial.

व्यावहारिक Practical.

व्यावहारिक शिक्षा Practical Education.

व्यावर्त्तक Differentiator.

व्यावर्त्तक गुण Differentia.

व्यंग्य काव्य Comic Poetry.

व्याप्त Immanent.

श

शरीर Living organism.

शरीर-रचनाशास्त्र Science of Anatomy.

शाश्वत Eternal.

शासन-पद्धति System of administration.

शासन-सत्ता Administrative Power.

शुभ Good (of human action.)

शून्य Void.

शृंखला Succession (of events)

शैली Style.

शौर्य Bravery.
श्रेणी Grade.
श्रेय Noble
श्वास-प्रक्रिया Respiration.

ष

षड्यंत्र A political Plot.

स

सकल्प Determination; Will, Volition.
सकेत वाचक (व्या.) Demonstrative. (Pronoun).
सक्षिप्त तर्क Enthymeme.
सख्या (ग) Number
सगति Harmony.
सघनन Condensation (of Vapour.)
संघर्ष Conflict.
सघात Conglomeration; Collocation.
सतानोत्पादन Production of offspring.
संतुलित Balanced (Personality).
सदर्भ Context.
सपर्क Contact.
सपन्न Enjoying a state of sufficiency.
सभावना Probability.
सभावित Probable.
संभाव्यता Potency, implying probability.
सयम Continence.
सयोग Combination, Mating of male and female animals.
सयोजक Conjunction.
सवाद Dialogue, Synthesis (noun.)
सविधान Constitution(Political)
सवेग Emotion.
सश्लेषण Synthesis (Process.)
संवेद Sense content
सवेदकारक Stimulus (object).
संवेद सम्बन्धी अग Sensory organs.
सवेदन Sensation.
संवेदन-शील Susceptible to sensation.
संवेद-शक्ति Sense-Faculty.
सवेद्य गुण Sensible quality.
सवृति Complication (of a Greek Drama.)
सस्कार Trace; Reminiscence.
संस्थान System, of nerves etc.
ससार Universe, Cosmos.
सक्रिय Active.
सत् Being in the ultimate

Sense.

सत्ता Being as a Motive.

सत्य Real (Phil); True (Logic)

सत्य लक्षण Infallible sign.

समझ (म.) Understanding.

समाग Homogeneous.

समाज (रा) Society.

समानता (रा.) Equality.

समासयुक्त (साहि०) Compound (words).

समीकरण Equation.

समुच्चय Collection.

समुदाय (रा) Community.

सम्मति Opinion.

सरल Simple.

सल्फ्यूरिक एसिड Sulphuric Acid.

सहज Spontaneous

सहकारी Co-operator in an activity.

सहघटित Coincident.

सहचारी Co-operator in a movement.

सहनशीलता Tolerance.

सहयोग Co-operation.

सांविधानिक Constitutional.

सांविधानिक राजतन्त्र Constitutional form of Government.

साझेदारी (रा) Partnership.

सादृश्य Similarity.

साधक Serving as an instrument.

साधन Means.

साध्य End, to be achieved.

साधारण लक्षण Ordinary sign.

सामर्थ्य Potency, implying capacity.

सामान्य General (adj); Universal (n.)

सामान्य न्याय Common Justice.

सार Essence.

सारभूत Essential.

सार्वभौम Universally applicable.

सावयव Embodying Constituents.

सीमाबद्धता State of being well-defined.

सुख Pleasure.

सुखान्त नाटक Comedy.

सुगढ़ Symmetrical.

सुचिंतित Well Deliberated.

सुधार Reformation; Rectification.

सुरक्षा Preservation

सुषुप्ति (म) Sleeping State

सुसगठित (of parts) properly united.

सूखा Dry.

सृष्टि World Process.

सैद्धान्तिक (वि०) Theoretical.

सोद्देश Purposeful

सोद्दिष्ट Activity, implying Purpose.

सौम्यता Good Temper.

स्थान Partial Space.

स्थानगत Spatial

स्थानीय गति Local Movement.

स्थानान्तरण Displacement.

स्थानापन्न Substitute.

स्थिति Position.

स्थिति-विपर्यय Peripety in a Greek Drama.

स्थूल Gross.

स्पदन Vibration.

स्मरण Remembering.

स्मृति Memory.

स्रोत Source.

स्वतंत्रकल्पना Free Imagination.

स्वर्ग Upper world.

स्वयसिद्ध Self evident; Axiom.

स्वाद Taste.

स्वामि-सेवक-सम्बन्ध Master-slave-Relation.

ह

हाइड्रोजन Hydrogen.

हाइड्रोक्लोरिक एसिड Hydro-chloric Acid.

हिंसा Violence.

हेय Ignoble.

ह्रास Decrease

क्ष

क्षणिक Momentary; transitory.

क्षणिक सुख Momentary Plea-sure.

क्षमता Capacity.

क्षीणता Weakness.

ज्ञ

ज्ञात Known.

ज्ञाता Knower.

ज्ञान Knowledge.

ज्ञान के नियम Principles of knowledge.

ज्ञानात्मक Cognitive.

ज्ञेय Knowable.

सहायक ग्रंथों की सूची

अरस्तू के ग्रंथ—

1 Ross and Smith . The Works of Aristotle, 12 vols, Oxford University Press.

अरस्तू-सम्बन्धी अध्ययन—

2. Allen, D J. . Aristotle.
3 Muir, G. R G : Aristotle.
4. Ross, W D. : Aristotle.
5. Taylor, A. E : Aristotle.

अरस्तू के ग्रंथों की उपलब्धि पर—

6 De Boer : History of Islamic Philosophy.
7. Russell, B. . History of Western Philosophy.

यूनानी धर्म और संस्कृति पर—

8. Bevan Hand Book of the History and Development of Philosophy.
9. Bulfinch's Mythology : Mentor Series.
10. Burns : Western Civilizations.
11 Cornford, F. M. : From Religion to Philosophy.
12. Freeman, Kathleen: Pre-Socratic Philosophers.
13. Hamilton, Edith . Mythology, Mentor Series.
14. Harrison, J. E. : Prolegomena to the Study of Greek Religion.

15. ,, : Themis.
16. Herodotus : The Histories, Penguin Series.
17. Homer : The Iliad, Mentor Series.
18. Ovid . Metamorphoses, Penguin Classics.
19. Vergil Pastoral Poems with Aenid.

प्राचीन यूनानी दर्शन पर—

20. Aristophanes : Comedies (The Clouds), Everyman's Lib.
21 Burnet, J. : Greek Philosophy, Thales to Plato.
22. ,, : Early Greek Philosophy.
23. Fairbanks . First Philosophers of Greece.
24. Fuller, B. A. G : History of Greek Philosophy.
25. Gomperz, T. : Greek Thinkers, Vol I
26. Plato : Dialogues of Plato, 2 Vols., Random House, New York.
27. ,, : Five Great Dialogues (Preface), Van Nostrand Company, New York.
28. ,, : Five Dialogues (Preface), Every man's Lib.
29. Plato and Xenophon Socratic Discoures ("Memorabilia of Socrates"), Everyman's Lib.
30. Taylor, A. E. : Plato, The Man and His Work.
31. Zeller, E. : History of Greek Philosophy, 2. vols.

यूनानी दर्शन पर—

32. Adamson · Development of Greek Metaphysics.
33. Coupleston, F. : A History of Philosophy, Part I.
34. Gomperz, T. : Greek Thinkers, 4 vols.
35. Stace, W. T. : A Critical History of Greek Philosophy.
36. Zeller, E : Outline History of Greek Philosophy.

यूनान का इतिहास—

37. Bury, J. B. : History of Greece.
38. Grote : History of Greece, 16 Vols.

मनोविज्ञान का इतिहास—

39. Brett, G. : History of Psychology, Abridged, 1953

जीवविज्ञान का इतिहास—

40 Nordenskiold, Erik : The History of Biology, Eng. Trans, Kegan Paul, 1929.

अरस्तू की पुस्तकों के संकेत

तर्क

१. अनालिटिका प्रायोरा (Analytica Priora)—३३, ४३
२. अनालिटिका पोस्टीरिओरा (Analytica Posteriora)—३३, ४१, ४३
३ डी इंटर प्रेटेशनी (De Interpretatione)—३३, ४३
४. कैटेगोरी (Categorie)—३३, ३६ ख, ४३
५. टापिका (Topica)—३३, ४३
६. डी सोफिस्टिस एलेंकिस (De sophistis Elenchis)—३१, ३३, ४१

भौतिक तथा रसायन शास्त्र

७. फिज़िका (Physica)—१४, ३३, ३४, ३५, ३७, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ६४
८. डी कीलो (De caelo)—३३, ३६ ख, ४३, ४९, ५०, ५० क, ५० ख
९. डी जेनरेशनी एट करप्शनी (De generatione et Corruptione)—३३, ३४, ३७, ५० क, ५२, ५९, ६०
१० मीटिओरोलॉजिका (Meteorologica)—३१, ३३, ३४, ५० ख, ५० ग, ५० घ, ५२, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८
११ डी मुन्डो (De Mundo)—३३

जीव-विज्ञान

१२. हिस्टोरिया एनीमैलियम (Historia Animalium)—२७, ३४, ७८, ८०
१३. डी पार्टिबस एनीमैलियम (De Partibus Animalium)—३४, ६५, ७१, ७२, ७३, ७४
१४. डी मोटू एनीमैलियम (De Motu Animalium)—३८
१५. डी इन्केसू एनीमैलियम (De Incessu Animalium)—३४

१६ डी जेनरेशनी एनीमैलियम (De Generatione Animalium)–३४, ६५, ६८, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०

१७ डी लांजीट्यूडिनी एट ब्रिवेटिटी विटी (De Longitudinae et Brive tetae vitae)—३४

१८ डी यूवेन्टुटे एट सेनेक्टुटे (De Euventute et Senectute)—३४

१९ डी विटा एट मार्टे (De Vita et Morte)—३४

२० डी रेस्पिरेशनी (De Respiratione)—३४

मनोविज्ञान

२१ डी एनिमा (De Anima)—३४, ६७, ६८, ७०, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९४, ९५, ९८, १०३, १०४

२२ डी डिविनेशनी पर सॉम्नम (De Divinatione per somnum)—३५, १०१, १०२

२३ डी मेमॉरिया एट रेमिनिस्सेन्शिया (De Memoria et Remini-Scentia)–३४, ९१, ९५, ९६, ९७, ९८

२४ डी सॉम्नो एट विजीलिया (De Somno et vigilia)—३५, ८६, ९०, ९२, ९८, ९९

२५ डी सॉम्निस (De Somnis)—३५, ९१, ९२, ९३, ९४, १००, १०१, १०२

२६ डी सेंसू एट सेंसिबिली (De Sensu et Sensibili)—३५, ५० घ, ८३

दर्शन

२७ मेटाफिजिका (Meta physica)—१, ९, ९ क, १०, ११, २५, ३५, ३६ ख, ३७, ३८, ३९, ४०, ४२, ४३, ४८, ५० ख, ६४, ६८, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६ ११७, ११८, ११९

नीति शास्त्र

२८ एथिका निकोमैकिया (Ethica Nicomachaea)—२५, ३५, ३९ ४०, १२२ १२३ १२४ १२५ १२६ १२७ १२८ १२९-१३०-

१३१, १३२, १३३, १३४. १३५, १३६, १३७, १३८, १४०, १४१
१४२, १४३, १४५, १४६, १४७, १४८, १४९, १५०. १५१, १५२
२९. एथिका यूडेमिया (Ethica Eudemia)—९, ११, ३५
३०. मैग्ना मोरेलिया (Magna Moralia)—९, ३५

राजनीति शास्त्र

३१ पालिटिका (Palitica)—३५, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८,
१५९, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८

सम्भाषण कला

३२ रेटॉरिका (Rhetorica)—३४, १६९, १७०, १७१, १७२,
१७३, १७४, १७५

काव्य शास्त्र

३३. प्वेटिका (Poetica)—३५, ३६ क, १७६, १७७, १७८, १७९,
१८०, १८१, १८२, १८३

अन्य

३४. मिकेनिका (Mecanica)—३६ क
३५. डी लिनियस (De Linius)—३६ क
३६ डी प्लान्टिस (De Plantis)—३८
३७ वेन्टोरम साइटम एट काग्नोमिना (Ventorum citus et Cognomina)—३६ क
३८ प्रॉब्लेमेटा (Problemeta)—३५

नामानुक्रमणिका

अ

अकादमी (Academy) १५, २४, २५, २६ २, ३, ५

अपॉलो (Apollo) १४

अपॉलोजी (Apology) १०, ११, १४

अयॉन (Ion) १०

अरस्तू (Aristotle) १, ६, ७, १२, १४, १७, २२, २३

अरिस्टोफेनीज (Aristophanes) ११

अल्-किन्दी ११

अल्-हिम्मी ११

आ

आर्फियस (Orpheus) ४, ५

आयर, लिओनार्ड वकनल ६५

इ

इटली (Italy) ७, १२

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (Encyclopaedia Britannica) १

इब्न रुश्द ११,

इरॉस (Eros) ३

इरेबस (Erebus) ३

इलियड (Iliad) १, ११२

ई

ईथर (Ether) ३, ४१, ४४

ईस्काइलस (Aeschylus) ४६

ए

एकिया ४६

एक्वीना, टामस (Aquinas Thomas) ११

एथीना (Athena) ४
एथेन्स (Athens) ५, १०, २, ३ १०
एनेक्जागोरस (Anaxigoras) ७, ८, ४३, ८७ १०८, १५३
एनेक्जिमिनीज (Anaximenes) ५ ६, ७, ५१
एनेक्जिमेंडर (Anaximander) ७, ५२, ६५, ६६
एन्ड्रॉनिकस (Andronicus) १०
एपीनोमिस (Epinomus) १६
एमेरा (Emera) ३
एम्पीडॉक्लीज (Empedocles) ५, ६, ५२, ६५, १०८
एरेसॉस (Eresos) २७
एलेक्जेंड्रिया (Alexandria) १०, ११, १२
एलेन, डी० जे० (Allen, D J.) १, ६, १०
एशिया माइनर (Asia Minor) १, २, ३, ४, २५, २६
एसॉस (Assos) ४, २७, २८
एस्पिना (Espinas) १६२

ऐ

ऐवरोज (Avveroes) ११

ओ

ओक्निस १
ओडेसी (Oddessey) १७६
ओलिम्पस (Olympus) ४
ओविड (Ovid) ४६

क

कार्डोवा (Cardova) ३१
कार्मिडीज १०
केऑस (Chaos) ३
कैल्किदिस (Chalcidis) १
कैल्किस (Chalcis) १, ७, १०

कोरिंथ (Corinth) ४६
कोलरिज (Coleridge) ९८
कौपुल्स्टन, फ्रेडरिक (Coupleston, Frederik) ९, १३
क्रिटियस (Critius) १६
क्रीटो (Crito) १०
क्रीसस (Croesus) ५
क्रोटोना (Crotona) ७
क्रोनॉस (Chronos) ३
क्लिओफोन (Cliophon) १७२
क्यूवियर (Cuvier) ७५

ग

गाम्पर्ज, थियोडोर (Gomperz, Theodor) ५, २५
ग्रोटे (Grote) १०
गार्गियस (Gorgias) १७४
गिया ३

ज

जियस (Zeus) २, ४, १५४
जीनो (Zeno) १७
जेनोक्रेटीज (Xenocrates) ६
जेनोफोन (Xenophon) ११
जेलर, ई० (Zeller, E.) १, १०, ६५

ट

टाइटन (Titan) ४, ५
टाइमियस १६, २०
टेथीज (Tethys) १. ३
टेलर ए० ई० (Taylor A E १० १३ १

ड

डायोजिनिस लिर्तियस ९
डायोनीसस (Dionysus) ४, ५
डायोनीसस जैग्रियस (Dionysus Zagrius) ४
डायोनीसियस प्रथम (Dionysius I) १५, ३
डायोनीसियस द्वितीय (Dionysius II) १२, १, ३, ६
डार्विन (Darwin) ७४
डी बोयर (De Boer) ११
डुरखीम (Durkheim) १६३
डेमिटर (Demeter) ४
डेमोक्रिटस (Democritus) ५, ४६, ४७, ५१, ६५
डेल्फी (Delphi) १४, २७

थ

थियोडोरस (Theodorus) १५
थियोफ्रैस्टस (Theophrastus) ४, १०
थीटीटस (Thaetetus) १६, १८
थीमिस (Themis) ५
थेलीज (Thales) १, ५, ६, २३, ५२, १४८
थ्रैसाइलस (Thrasylus) १३

न

नाइकेनर १, ८
नार्डेन्स्कओल्ड, एरिक ६२
निकोमैकस (Nicomachus) १, ७, ३५
निक्स (Nyx) ३
नीलियस (Nilius) १०, ११, १२
नौशेरवाँ, खुसरो ३१

प

पर्सीफोनी (Persephone) ४

पाइथागोरस (Pythagoras) ७, ८, ६, ७, ३७, ४६, ५० ग, १०९
पारमेनाइडीज (Parmenides) ८, ९, १६, २२, १०८
पार्वा नेचुरेलिया (Parva Naturalia) ३४
पीथिया (Pythia) ६, ७, ८
प्लेटो (Plato) १ ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ६२, ६३, ७२, १०८, १०९, ११०, १२०, १५५, १६१

प्र

प्रॉक्जेनस (Proxenus) १, ८
प्रॉडिकस (Prodicus) ९
प्रोटैगोरस (Protagoras) ९, १०, १८

फ

फारस (Persia) ५, ६, २७, ३१
फ़िलिप (Philip) ४, ५
फिलेबस (Philebus) १६, २३
फीडो (Phaedo) ८, १०, ११, १३, २०
फीड्रस (Phaedrus) १३, २०, २८
फीदन (Phaedon) ४३

ब

ब्रेट १०४

म

मकदूनिया (Macedonia) १, ७, ९, ११
माइथालॉजी (Mythology) ४७
माइलीशियन (Milesian) ५२
माइसीनी (Mycenae) १
मिस्र (Egypt) १२
मेटामार्फोजेज (Metamorphoses) ४७

मेमोरेबिलिया (Memorabilia) ९
म्योर, जी० आर० जी० (Muir, G R G.) १, ६, ७७

य

यूडिमस (Eudemus) ३५
यूथीफ्रोन (Euthyphron) १०

र

रसेल, बर्ट्रेंड (Russell Bertrand) ११
रॉस, डब्ल्यू० डी० (Ross, W. D.) १, ६, ९, १२, १४, १५, १६, १८
६८, ७७
रिपब्लिक (Republic) ९, १३
रिया (Rhea) ३
रूसो, जे० जे० (Rousseau, J. J.) १६३
रोम (Rome) १२
रोमन साम्राज्य (Roman Empire) ११

ल

लाइसिस (Lysis) १०
लॉक, जॉन (Locke, John) १०५
लाज (Laws) १६, २०, २१, २३, २४
लिनियस (Linius) ७४
लीकियम (Lyceum) २, ३, ४, ६, १०, १२, १८, २९, ३१, ३६
लीडिया (Lydia) ५
लीर्तियस, डायोजिनिस (Laertius, Diogenes) १, २९, ३०
लेटिन (Latin) ३१, ३२
लेवियेथन (Leviathan) १६३
लेस्वॉस (Lesbos) ४, ५
लैचेज (Laches) १०
ल्यूकिप्पस (Leukippus) ५१

स

सप्तपदार्थी १८
सिकन्दर (Alexander) १, ५, ६, ७, १०, १५
सिम्पोजियम (Symposium) १६
सिराक्यूज (Syracuse) १५, २
सिसरो (Cicero) ९, १०
सिसली १२
सुकरात (Socrates) २, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १५, १६, १७, २२, १०८, १३०, १३८, १५०, १५३
सैक्काज़, अमोनियस (Saccas, Amonius)) ३१
सैमोस (Samos) ७
सोफिस्ट (Sophist) ९, १०, १६, २१, १४, १६९
स्टेट्समैन (Statesman) १६, २५, २०
स्टेस, डब्ल्यू० टी० (Stace,. W T.) ५, ?
स्तैगिरा (Stagira) ६, २९
स्प्यूसिप्पस २, ३, ४

ह

हर्पीलिस ७
हर्मियस ३, ४, ७, २९
हर्मोटिमस (Hermotimus) १०८
हाब्ज, टामस (Hobbes, Thomas) १६३
हिप्पोक्रेटीज (Hippocrates) ४६, ६५
हेड्ज (Hades) २
हेराक्लाइटस (Heraclitus) ५, ६, ७, १५, २३
हैरिसन, जेन एलेन ((Harrison, Jane Ellen) ५
हैमिल्टन, एडिथ (Hamilton, Edith) ४७
ह्यूम, डेविड (Hume, David) ९९
होमर १, ११२

विषयानुक्रमणिका

अणुवाद ६, ७, ५१
अन्तरिक्ष की घटनाएँ ४६
अरस्तू के ग्रंथ ९
'असीम'-७-
असीम का अर्थ ३४
आकाश की घटनाएँ ४५
आकाश गंगा ४७
आकाश पिंड १४
आकृति ३६, ७२
आगमन और निगमन ३१
आत्म-गौरव १४१
आत्मा और शरीर ८५
आत्मा की पाँच दशाएँ १५१
आत्मा के विभाग १५०
इन्द्रधनुष ४८, ४९
ईश्वर-सम्बन्धी विचार ११९
'उच्चतम सामान्य' ३२
उत्पादन-सम्बन्धी विज्ञान २३
उदारता १३९
एकतत्त्व-वाद ५२
काव्य-शास्त्र १८१
काव्य समीक्षा १९०
कुलीन तंत्र १६५
क्रोध १३६
क्वथन ५८
गणित १७, २२
गति-सम्बन्धी विचार ३८
जनतंत्र का समर्थन १६९
जीवन १२५
ज्ञान के विभाग २०
ज्यौतिप १८
तत्त्वों का स्थान-निर्णय ५३
'नकभिास' १४
तारे टूटना ४६
दर्शन की उत्पत्ति-५-
देश सम्बन्धी विचार ३५
दो भाव-दशाएँ १४९
द्रव्य का विचार ११३
द्रवीकरण ६०
द्वन्द्वात्मक पद्धति ३०
निद्रा १००
निमित्त कारण ३३
निष्क्रिय गुण ५६
नैतिक गुणों का विवेचन १३०
न्यायशीलता १४४
परिणति ५४
परिमिति ४२
परिवार का विकास १६२
पश्चात् बिम्ब ९५
पिंडों का निर्माण ६१

पिण्डो के भौतिक गुण ६३
पाक ५७
'पारस्परिक परिणति' ५२
पुच्छल तारे ४६
पृथ्वी की घटनाएँ ४९
प्रकाश वृत्त ४८
प्रकृति ३६, ७१, ७२
प्रकृति और आकृति ७१, ११६
प्रकृतिवाद ६७
प्रत्यक्ष ९२
प्रत्यय सिद्धान्त १०९, ११०
'प्रथम चालक' ४१, ४२
प्रथम विज्ञान २१
प्रयोजन वाद ६७
प्रातिभ ज्ञान १५३
प्लेटो का आत्मज्ञान-२०-
प्लेटो का ज्ञान-सिद्धान्त-१८-
प्लेटो का भौतिक दर्शन-१६-
प्लेटो के ग्रंथ १५-
प्लेटो के विचार ६५
प्लेटो से मतभेद २
बुद्धिवाद ७-
बौद्धिक गुण १५०
भाषण-कला १७५
भू-विज्ञान १८
भौतिक दर्शन ५
भौतिक वाद ७
भ्रम ९३
मध्य मार्ग १२७
महाकाव्य के नियम १८६
मिताचरण ११, १३४
मैत्री १५६
'रचना' २८
राजतंत्र १६५
'विकार' ३९
विचार १०४
'विज्ञान'-७-
विज्ञान और दर्शन २५
विज्ञान का विकास २६
विज्ञानों की सीमाएँ २९
विज्ञान के विभाग २८
विद्रोह के कारण १७१
विश्व का विभाजन ४३
शासन-समस्या का हल १६८
शिक्षा का नियंत्रण १७३
शुभ और परम शुभ १२६
संयम १५४
संवेदन ८६—९१
सक्रिय गुण ५७
सत्यवादिता १४३
समय की व्याख्या ३७
समावयव ३६
सहगामी ७३
सांविधानिक शासन १६६
सादृश्य विचार ८१
सार-निर्णय १११